वर्ष ४२] * * * [अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२५, अप्रैल १९६८

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

छः प्रसिद्ध देवी

सरस्वती, लक्ष्मी, ललिताम्बा, दशभुजा दुर्गा, गायत्री, काली

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
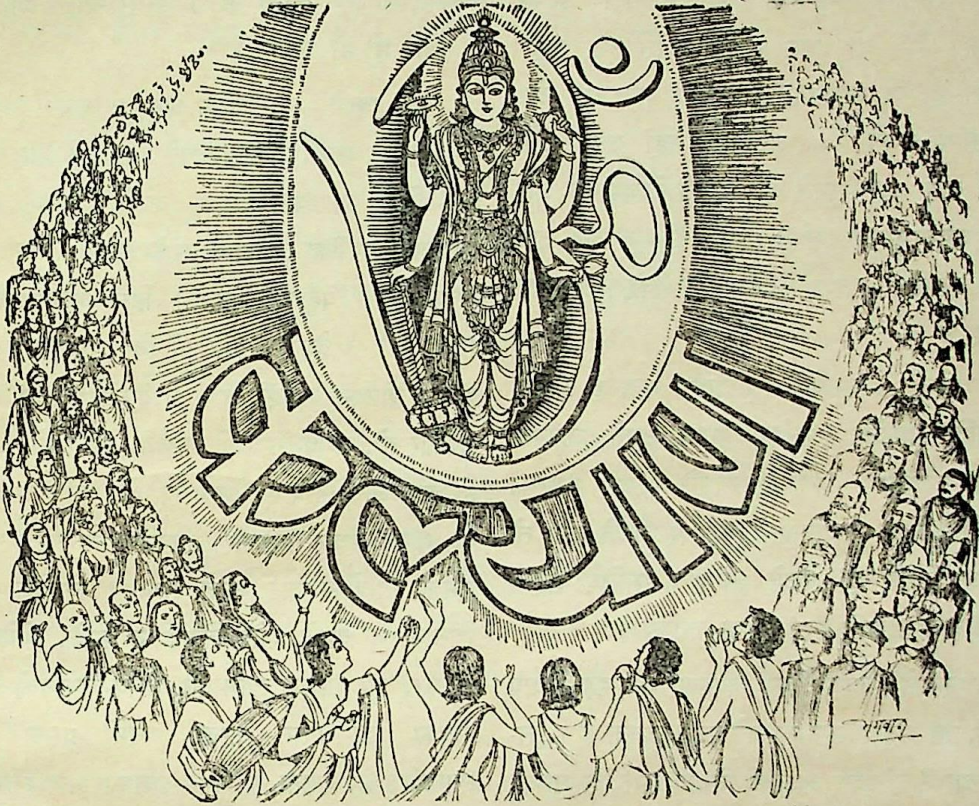
त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वर्ष ४२ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०२५, अप्रैल १९६८ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ४९७

प्रसिद्ध छः देवी माताओंकी जय !

विद्यादायिनि 'सरस्वती' जय, श्रीविभूतिदा 'लक्ष्मी' जय ।
'ललिताख्या' कल्याणकरी जय, 'दुर्गा' दुर्गतिनाशिनि जय ॥
मुक्तिदायिनी 'गायत्री' जय, 'काली' कलुषनिकंदिनि जय ।
जय प्रसिद्ध षडरूपा माता, दुःख-शोक-भयहारिणि जय ॥

कल्याण

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है—यह बात सैकड़ों-हजारों बार कही-सुनी जाती है, पर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर बहुत कम लोग निष्ठाके साथ चलते हैं। जो स्वयं नहीं चलते और चलनेकी बात कहते-सुनते हैं, उनकी देखा-देखी और लोग भी कहना-सुनना सीख लेते हैं—चलना नहीं सीखते। इसलिये भगवत्प्राप्ति केवल वाणीका विलासमात्र रह जाता है।

याद रक्खो—मनुष्योंके समुदायका नाम ही समाज है। यदि समाजका प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनके उद्देश्यको समझकर—लक्ष्यको सामने रखकर दूसरेकी प्रतीक्षा किये विना भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलने लगे तो समाज अपने-आप ही चलने लगेगा। इसलिये कहने-सुननेकी बात छोड़कर स्वयं करना चाहिये।

याद रक्खो—जब किसी कामका मन दृढ़ निश्चय करता है, तब मनुष्य उस कामको करने लगता है। इसलिये कलपर न छोड़कर आज ही निश्चय करो कि मुझको आज ही अभीसे ही भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलना शुरू करना है, सबसे पहले—जीवनका लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' है, इसका निश्चय करो। इस 'निश्चय'का अर्थ ही है जीवनको भगवान्के सम्मुख कर देना। अभी हमारा जीवन भगवान्के विमुख है और भोगोंके सम्मुख है। इसको घुमाकर भगवान्के सम्मुख कर देना है, फिर एक पैंड भी आगे चलेंगे तो भगवान्की ओर ही चलेंगे।

याद रक्खो—भगवान्के सम्मुख होकर खड़े नहीं रहना है, उनकी ओर उनकी प्राप्तिके मार्गपर सावधानीसे सतत चलना है। इसीका नाम साधन है। भगवत्प्राप्तिके साधनमें तन-मन-वचनके सब कार्य भगवत्प्रीत्यर्थ करने हैं और भगवान्के प्रीत्यर्थ वही कर्म होते हैं जो भगवान्के अनुकूल होते हैं। अतएव भगवान्के अनुकूल कर्मोंका आचरण करना है। इससे प्रतिकूलका त्याग तो आप ही हो जायगा।

याद रक्खो—भगवान्के अनुकूल कार्योंमें प्रधान तो है—प्रत्येक कर्ममें भगवत्प्रीतिकी भावना। और वे काम हैं—किसी प्राणीकी हिंसा न करके, किसीको कष्ट न पहुँचाकर, किसीका अहित न करके सबका पालन करना, सबको सुख पहुँचाना, सबका हित करना; किसीको शाप, गाली न देकर—किसीकी निन्दा-चुगली न करके, झूठ न बोलकर व्यर्थकी चर्चा न करके, जिससे दूसरेका उपकार हो, उसके गुणोंकी सच्ची प्रशंसा हो, जो सत्य हो तथा जो निर्दोष एवं आवश्यक हो, ऐसे वचन बोलना या मौन रहकर निरन्तर भगवान्के नामका रटन तथा उनके स्तोत्रोंका पाठ करते रहना। किसीका अनिष्ट-चिन्तन न करके, शोक-विषाद न करके, भोगेच्छा न रखकर, क्रूर भावका त्याग कर, विषय-चिन्तनको छोड़कर सबका इष्ट-चिन्तन करना, मनमें प्रसन्न रहना, त्यागकी इच्छा रखना, सौम्य—दयामय भाव रखना और निरन्तर भगवच्चिन्तन करना तथा भगवान्का नाम, जप, कीर्तन, भजन, सत्सङ्ग, ध्यान, अनाथ-दुखियों-पीड़ितोंकी सेवा, सद्विचार, स्वाध्याय, गुरुजनोंका पूजन करना। ये सभी साधन-भोग कामना न करके भगवत्प्रीत्यर्थ करनेसे भगवत्प्राप्तिके प्रत्यक्ष साधन बन जाते हैं। इनके करनेसे सदाचारमें प्रीति, भोगोंमें वैराग्य, अन्तःकरणकी शुद्धि, दैवीसम्पत्तिका स्वभाव, भगवान्के तत्त्वज्ञानका उदय और भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है। यही भगवत्प्राप्तिका प्रशस्त तथा निश्चित मार्ग है।

याद रक्खो—मार्ग तो जान लिया पर कार्य सफल होगा मार्गपर चलनेसे ही। अतएव आज ही चलना शुरू कर दिया जाय। इसमें न आलस्य करना है, न प्रमाद।

याद रक्खो—जीवन चला जा रहा है—मृत्यु समीप आ रही है । यदि यों ही प्रमादमें, भोग-लिप्सामें, विषय-चिन्तनमें जीवन बीतता रहा तो मानव-जीवन असफलतामें ही नष्ट हो जायगा । फिर पश्चात्तापके सिवा कोई उपाय नहीं रह जायगा । अतएव इस कार्यमें जरा भी विलम्ब नहीं करना है ।

'शिव'

उपासना और अधिकार

[जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजका सदुपदेश]

(प्रेषक—श्रीसदाशिवजी जोशी)

आज उपासनाके विषयमें कुछ कहना है । समय तो किसी-न-किसी रूपमें लोग उपासनाके लिये देते ही हैं; परंतु विधानके जाने बिना फल उसका विपरीत ही होता है, अनुकूल नहीं होता । पहले तो इसका ज्ञान होना चाहिये कि कहाँसे उपासनाका प्रकार सीखा जाय । ऐसा नहीं कि जहाँसे जो मिलता देखो, वहींसे ले लो । जहाँसे शास्त्र लेनेको कहता है, वहींसे लेना चाहिये ।

संतान चाहते हो तो ऐसा नहीं कि जहाँ भी धरी-पड़ी मिले वहींसे उठा लो । विधिपूर्वक विवाह करो, विधानके अनुसार गर्भाधानादि संस्कार कराओ, तब जो संतान होगी, वही कामकी होगी ।

इसी प्रकार कोई भी काम किया जाय यदि विधानसे किया गया हो तो उसका फल उत्तम होगा । गङ्गाजल पीना है तो नाबदानसे क्यों पिये, धाराका क्यों न पिये ? संतानकी चाहना है तो वैध संतान क्यों न उत्पन्न करे ? उत्तम विद्या ही लेनी है तो क्यों न उत्तम स्थान तथा उत्तम अधिकारीसे ली जाय ?

इस समय अध्यात्मकी इच्छा होते हुए लोग विचार-हीन हो रहे हैं । इतिहास, पुराण और वेदके द्वारा ही तो भगवान् प्रमाणित होते हैं । कोई इतिहास-पुराणादि न माने तो परमात्माको जानेगा कैसे; क्योंकि परमात्माको तुमने देखा तो है नहीं, भगवान्के देखनेके बाद भी यदि उनके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहोगे तो भी शास्त्रका सहारा लिये बिना नहीं बोल सकते, कारण यह कि परमात्माको जिस स्वरूपमें देखोगे, उस स्वरूपका उसी रूपमें वर्णन नहीं कर सकते । भगवद्दर्शन 'मूक-मिष्ट-पदार्थ-भक्षणवत्' होता है, गूँगा यदि कोई मीठा पदार्थ खाये तो भी वह उसका वर्णन नहीं कर सकता ।

भगवान्के स्वरूपको जिसने जाना है, वह कहनेमें असमर्थ है । जिसने कहा है उसने शास्त्रके बलपर ही कहा है । अपना अपरोक्ष अनुभव भी शास्त्र-पुराण-इतिहास आदिके आधारपर ही कहा जाता है, शास्त्र ही वर्णन करता है कि एक समय बद्रीनाथमें एक महात्मा गये और कपाट बंद पाकर बोले—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे ।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

'अपने ऐश्वर्यके मदमें चूर होकर हमारी अवहेलना कर रहे हो । स्मरण रक्खो, जब नास्तिक बढ़ेंगे तब तुम्हारी भगवत्ताका समर्थन करनेवाले हम ही होंगे । उस समय हमारे ही अधीन तुम्हारी स्थिति रहेगी ।'

तुरंत कपाट खुल गया । हमारे यहाँ महात्माओंने डाँटकर भगवान्से काम लिया है । हीरा बहुत मूल्यवान् होता है, परंतु उसका मूल्य जौहरीके नेत्रमें ही रहता

है । एक समय एक महात्मा ज्योतिर्मठ गये । उन्होंने कहा, 'महाराज ! कृपा करके कोई ऐसी चीज दें जो हम हिमालयसे नीचे उतरकर लोगोंको दिखा सकें कि महाराजने हमें यह चीज दी है ।' इसके उत्तरमें हमने कहा कि 'चीज तो दी जा सकती है; परंतु सब लोग उसे देख सकें ऐसे नेत्र देनेमें कठिनाई है ।' नेत्रहीन होनेके कारण ही भगवान्का अनुभव नहीं हो रहा है । शास्त्र-प्रमाणसे उपासनाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति सम्भव है । शास्त्रको मानो तभी कल्याण होगा ।

बहुत लोग शास्त्र-विधान देखकर और अधिकार-अनधिकारका विचार न करके केवल यहाँ-वहाँसे माहात्म्य पढ़-सुनकर ही उपासनामें प्रवृत्त हो जाते हैं, कुछ लोग ॐकारको ही बहुत महत्त्वशाली मानकर उसीका जप करने लगते हैं । गीतामें भगवान्ने कहा अवश्य है कि सब वेदोंमें प्रणव मैं ही हूँ । किंतु इस कारण यदि भगवान्का स्वरूप मानकर भगवान्को अपनाते हो तो उसी प्रकार सिंहको भी पकड़कर क्यों नहीं रखते, क्योंकि ॐकारके समान वह भी भगवान्का स्वरूप है—**'मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं ।'** ॐकारसे प्रेरित होकर जो लोग केवल ॐकारका जप करते हैं, उनकी क्या दशा होती है यह हम अपने अभीतकके अनुभवसे बताते हैं—

दो-चार, दस-बीस बार नित्य ॐकार-जपसे कोई विशेष बात नहीं होती, परंतु यदि दो-चार हजार जप नित्य होता रहे तो थोड़े ही समयमें लौकिक परिस्थिति कमजोर पड़ जाती है । संखिया मारक है; परंतु थोड़ा-थोड़ा खाया जाय तो उसका असर उतना शीघ्र नहीं होता । परंतु थोड़ी भी मात्रा अधिक हो जाय तो मारक तो है ही । इसी प्रकार केवल ॐकारका जप विशेष रूपसे करनेवालोंकी लौकिक व्यवस्था अवश्य कमजोर हो जाती है, रोजी-रोजगारमें कमी हो जाती है । स्त्री-पुत्र आदि अस्वस्थ रहते हैं और मर भी जाते हैं ।

इस बातका रहस्य यह है कि ॐकार अद्वैत परमात्माका वाचक है । यह केवल है तो केवल ही कर देता है, ॐकारका जप करनेवाला यदि विरक्त है तब तो वह अकेला है ही, उसका क्या बिगड़ेगा, परंतु जिसका लगाव संसारमें है वह या तो अपना मन संसारसे ही हटा ले, नहीं तो, जहाँ उसका लगाव है वह चीज ही नष्ट हो जायगी । यही ॐकारके जपका फल है । या तो संसारमें कहीं राग न करो और यदि राग करोगे तो वह रागास्पद पदार्थ ही ॐकारके जपके प्रभावसे नष्ट हो जायगा । इसीलिये गृहस्थोंको केवल ॐकार-जपका अधिकार नहीं है, शास्त्र जो किसीको अधिकार नहीं देता है तो वह उसके कल्याणकी दृष्टिसे नहीं देता है । यदि ॐकार-जपसे गृहस्थोंको लाभ होता तो कोई कारण नहीं था कि शास्त्र उनके लिये निषेध करता । मन्त्रोंके आगे जो ॐकार जोड़ देते हैं वह माङ्गलिक अर्थमें होता है । दूसरी बात यह है कि स्त्रियोंको ॐकारयुक्त मन्त्रके जपका निषेध है । जहाँ पुरुषोंके मन्त्रके आरम्भमें 'ॐ' लगाया जाता है वहाँ स्त्रियोंके मन्त्रके आगे 'श्री' लगाया जाता है ।

शास्त्रोंमें स्त्रीजातिके लिये 'गुरुत्व' कहीं नहीं बताया है । स्त्रियाँ गुरु नहीं हो सकतीं । गार्गी, चूड़ाला, सुलभा आदि स्त्रियाँ ज्ञानी और योगी भी हो गयी हैं पर यह कहीं नहीं मिलेगा कि उन्होंने किसीको अपना शिष्य बनाया हो ।

भगवान्का भजन-पूजन करते हुए साधन-सम्पन्न होकर ज्ञानकी प्राप्ति तो सब लोग कर सकते हैं—भगवान्की भक्तिमें सबका अधिकार है, परंतु गुरु सब नहीं बन सकते । 'गुरुत्व' केवल ब्राह्मणको है । ब्राह्मणके अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शिष्य तो हो सकते हैं पर गुरु नहीं । स्त्रियोंको भी गुरु बननेका अधिकार नहीं ।

जनकराज विदेह इतने बड़े ज्ञानी थे, परंतु क्षत्रिय होनेके नाते उन्होंने गुरु बननेका प्रयत्न कभी नहीं किया । जिस समय शुकदेवको व्यासजीने जनकके पास ज्ञानकी शिक्षा लेने भेजा, उस समय जनकजीने पूछा

कि 'आप किसलिये पधारे हैं ?' शुकदेवने कहा— 'आपसे ज्ञानकी शिक्षा लेनेके लिये पिताजीने भेजा है।' जनक बोले—'आप ब्राह्मण हैं, हम क्षत्रिय हैं। आपको उपदेश करनेका हमें अधिकार नहीं है। इसलिये शास्त्र-विरुद्ध हम आपको कैसे उपदेश करें ?' शुकदेवजीने कहा—'आप क्षत्रिय हैं तो दान देना तो आपका धर्म ही है। शास्त्र आपको दान देनेकी आज्ञा तो देता ही है। आप हमें ब्रह्मविद्याका दान दें।' यह सुनकर जनकजीने शुकदेवजीको ऊँचे आसनपर बैठाकर उनका पूजन किया और दानरूपमें उन्हें ब्रह्मविद्या दी। शिष्य बनाकर जनकने उपदेश नहीं दिया। यह है समर्थ लोगोंका शास्त्रीय मर्यादापालनका आदर्श। आजकल जिनके मनमें आता है वही कपड़े रँगकर साधुका वेष बना लेते हैं और लोगोंको शिष्य बनानेके लिये लालायित रहते हैं। इस प्रकारसे गुरु और शिष्य दोनोंका पतन होता है। अतः जिसको गुरु बननेका अधिकार है वह गुरु बनकर और जिसको गुरु बननेका अधिकार नहीं है, उसे चाहिये कि वह गुरु बननेका प्रयत्न न करे, शिष्य बनकर ही अपना कल्याण-सम्पादन करें।

अपने कल्याणके लिये ऊँचे-से-ऊँचे गुरुकी खोज करनी चाहिये। गुरुको जितना ही लगाव संसारमें कम रहेगा, उतना ही वह उच्चकोटिका माना जायगा।

शास्त्रविरुद्ध आचरण करोगे तो कल्याण नहीं हो सकता, अनर्थ ही होगा!
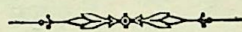
एक महात्माका प्रसाद

(संकलयिता—श्री'माधव')

चित्तशुद्धिके बिना न तो चित्तमें स्थिरता ही आती है और न प्रसन्नता तथा निर्भयता। स्थिरताके बिना न तो प्राणी शान्ति ही पाता है और न किसी कार्यकी सिद्धि ही होती है। प्रसन्नताके बिना न तो लोभका ही अन्त होता है और न नित-नव उत्साहकी जागृति ही होती है। निर्भयताके बिना न तो आवश्यक शक्तिका विकास ही होता है और न प्राप्त-शक्तिका सदुपयोग ही। इस दृष्टिसे चित्तमें स्थिरता, प्रसन्नता एवं निर्भयताका होना जीवनकी सार्थकताके लिये परम आवश्यक है। ज्ञान और जीवनकी एकतामें ही चित्तकी शुद्धि निहित है। चित्त शुद्ध होते ही उसमें स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता स्वतः आ जायगी।

कामनाओंकी पूर्तिमें प्राणी सुखका अनुभव करता है और जिन वस्तुओंसे कामनाकी पूर्ति होती है उन वस्तुओंके अधीन हो जाता है और फलतः जडतामें आबद्ध हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने अस्तित्वको ही भूल जाता है और अनेक प्रकारके भय उत्पन्न हो जाते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, क्या उसमें सतत परिवर्तन नहीं है ? तो फिर किसी भी वस्तुके अस्तित्वको स्वीकार करना क्या प्रमाद नहीं है ? इस दृष्टिसे किसी भी वस्तुकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चित्तको अशुद्ध करना है। उसीका परिणाम यह हुआ कि प्राणी लोभ-मोह आदि विकारोंमें आबद्ध हो गया है। लोभसे आबद्ध होनेके कारण ही संग्रहकी रुचि उत्पन्न हो गयी है और जीवनमें जडता आ गयी है। इतना ही नहीं, वस्तुमें ही जीवन-बुद्धि हो गयी है और मोहने घर दबोचा है।

लोभ दरिद्रताका कारण है और मोह भेदको उत्पन्न करता है। भेद सीमित अहंभावको पुष्ट करता है और

दरिद्रता अभावको जन्म देती है; जिससे प्राणीके चित्तमें न तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। अतः वस्तुओंके महत्त्वने प्राणीको वस्तुओंसे भी वञ्चित किया और चिन्मय जीवनसे भी विमुख कर दिया। प्राकृतिक विधानके अनुसार वे ही सुरक्षित रह सकते हैं, जो उदार हैं। उदार वे ही हो सकते हैं जो निर्लोभ हैं और निर्लोभ वे ही हो सकते हैं जो वस्तुओंसे अपना महत्त्व अधिक जानते हैं।

निर्लोभता आते ही मोहरहित होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। वस्तुओंके महत्त्वने ही कामको उत्पन्न किया और उसीसे अभावकी उत्पत्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि इच्छाओंकी उत्पत्ति हो गयी और इच्छित वस्तुओंका अभाव हो गया अर्थात् इच्छाओंकी पूर्तिकी परिस्थितिमें आबद्ध होकर प्राणी स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयतासे रहित हो गया। जडतासे चेतनकी ओर अग्रसर होनेमें किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है और न कोई अभाव या विषमता है। विषमताका अन्त होते ही खिन्नता सदाके लिये बिदा हो जाती है अथवा यों कहो कि अखण्ड प्रसन्नता आ जाती है। इतना ही नहीं, वैरभावका तथा भयका भी अन्त हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्तकी अशुद्धिसे ही वस्तुओंका इतना महत्त्व बढ़ गया है कि साधक अपने अस्तित्वको ही भूल गया है। जो अभावरूप है उसका भाव स्वीकार कर लिया है और जिसमें सतत परिवर्तन है उसकी स्थितिको ही सत्य मान लिया है। यदि साधक विवेकपूर्वक, जो भाव-रूप नहीं है उसका अभाव स्वीकार कर ले और जिसकी स्थिति नहीं है उससे विमुख हो जाय तो वर्तमानमें ही चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्तके शुद्ध होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जायँगी—ध्यानीका ध्यान अखण्ड हो जायगा, योगी योगसे अभिन्न हो जायगा तथा जिज्ञासुको तत्त्वसाक्षात्कार एवं प्रेमीको परम प्रेमकी उपलब्धि होगी और फिर सब प्रकारके भयका अन्त हो जायगा। फिर किसी प्रकारके दोषकी उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् मनमें स्थिरता, चित्तमें प्रसन्नता और हृदयमें निर्भयता सदाके लिये निवास करेगी। पर यह तभी सम्भव होगा जब साधक अपनी अनुभूतिका आदर कर वस्तुओंके सम्बन्ध तथा स्मृतिका अन्त करनेमें समर्थ हो जाय। यही चित्तशुद्धिका सुगम उपाय है। ॐ आनन्द आनन्द आनन्द !

मेरा जीवन प्रभुका लीलामञ्च बने

प्रभुका लीलामञ्च बने मेरा यह जीवन।
खेलें इसमें खुलकर वे मेरे जीवन-धन॥
चलें-फिरें, नाचें-कूदें, बैठें या सोयें।
रस बिखेर कर रसिक, रुलायें या खुद रोयें॥
समता, त्याग, विराग, प्रेम-रसका आस्वादन।
करें, दिव्य अविराम देखकर लीला जन-जन॥

भक्तिसाधनाका मनोविज्ञान*

(मूल लेखक—श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती)

[अनुवादक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज]

(प्रथम अमृतवृष्टि)

वेदोंने आनन्दमय पुरुषसे भी परे पुच्छ-प्रतिष्ठाके रूपमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया है, जिसे बार-बार रस और आनन्द कहकर संकेत करता है, श्रीमद्भागवतके रङ्गाङ्गणमें जो सबको अपने-अपने भावानुसार वज्र, नरवर, स्मर आदिके रूपमें दिखायी पड़ता है, गीता जिसको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहती है, वे व्रजराजनन्दन——श्यामसुन्दर अपने शुद्ध सत्त्वमय नाम-रूप-गुण-लीलाके साथ बिना किसी कारणकी अपेक्षा किये ही स्वेच्छासे ही भक्तजनोंके श्रवण, नयन, मन, बुद्धि आदि इन्द्रिय-वृत्तियोंमें अवतीर्ण होते हैं। उनका वह श्यामसुन्दर वपु अनादि नित्य है। जैसे वे यदुवंश, रघुवंश आदिमें स्वतन्त्र श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूपमें अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही प्रेमियोंके जीवनमें भी।

जैसे भगवान् स्वतन्त्र—हेतुनिरपेक्ष प्रकट होते हैं, वैसे ही भगवान्की भक्ति भी स्वयंप्रकाश है। उसे किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लिये अहैतुकी, अप्रतिहता, यदृच्छया इत्यादि शब्दोंका प्रयोग आता है। यदृच्छाका अर्थ है स्वच्छन्दता, स्वैरिता। यदि यदृच्छा शब्दका अर्थ किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे भक्तिका उदय होता है——ऐसा किया जाय तो एक प्रश्न उठता है—क्या यह सौभाग्य शुभकर्मसे उत्पन्न हुआ है अथवा बिना कर्मके ही? यदि भक्तिको कर्मजन्य सौभाग्यसे जन्य माना जाय तो वह कर्मके पराधीन होगी और उसकी स्वयंप्रकाशता सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि भाग्यको कर्मजन्य न मानें तो अनिर्वचनीय होनेके कारण भाग्य स्वयं अज्ञेय-असिद्ध हो जायगा। वह भक्तिका कारण कैसे बनेगा? इसलिये भक्ति भाग्यजन्य नहीं है।

यदि ऐसा माना जाय कि भगवान्की कृपा ही भक्तिका कारण है तो ऐसा प्रश्न उठेगा कि कृपाका कारण क्या है? इस प्रकार कारण-कार्य-परम्पराका अन्त न होनेसे अनवस्था दोष हो जायगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भगवान्की कृपा किसी उपाधिका आश्रय लेकर नहीं हुआ करती। यदि उसको भी कारणके अधीन मानेंगे तो सबपर न होनेसे भगवान्में विषमताका दोष प्राप्त होगा। भगवान् क्यों किसीपर पक्षपातपूर्वक कृपा करते हैं और निर्दयतापूर्वक उससे वञ्चित रखते हैं। दुष्टोंको दण्ड देकर स्वभक्तोंका पालन करना तो दूषण नहीं है। यह पक्षपात भूषण ही है; क्योंकि भगवान्के गुणोंमें भक्तवात्सल्य सर्वगुणचक्रवर्ती है और यह सबको अभिभूत करके अवसर-अनवसरका विचार किये बिना ही अभिव्यक्त होता रहता है। भगवान्की कृपाके समान ही भक्तजनोंकी कृपा भी निरुपाधिक-हेतुनिरपेक्ष होती है। तथापि मध्यम कोटिके भक्तमें किंचित् वैषम्य स्वीकार करना पड़ता है। उत्तम कोटिका भक्त सबको भगवान्में और भगवान्को सबमें देखता है; परंतु मध्यम कोटिका भक्त ईश्वरसे प्रेम, भक्तसे मैत्री, दुखीपर कृपा और द्वेषीपर उपेक्षा रखता है। इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें मध्यम कोटिके भक्तमें विषमता स्वीकृत होनेके कारण अपने भक्तके वशमें रहनेवाले भृत्यवश्य भगवान् भी यदि अपने भक्तके कृपापात्रपर विशेष कृपा करें तो कोई असङ्गत नहीं है। भक्त कृपा क्यों करता है? अपने हृदयमें विराजमान भक्तिके कारण। भक्तिसे कृपा और कृपासे भक्ति, इसमें भक्तिकी स्वयंप्रकाशता ही प्रकाशमान है; क्योंकि भक्तके हृदयमें स्थित भक्ति ही कृपाके रूपमें अभिव्यक्त होकर शिष्यके हृदयमें भक्तिका संचार कर देती है। इसीसे जहाँ श्रीमद्भागवतमें यह उल्लेख मिलता है कि किसी अतिभाग्यसे भगवत्-सेवामें श्रद्धाका उदय होता है, ऐसा कहा गया है, वहाँ भी भाग्यका अतिक्रमण करके भक्तको करुणासे ही अभिप्राय है। भगवान्ने अपने भक्तको ऐसी श्रेष्ठता प्रदान कर दी है और वे उसके इतने वशमें हो गये हैं कि सम होनेके कारण जो वस्तु किसी-किसीको भगवान् नहीं दे सकते, वही वस्तु भक्त उन्हींकी कृपाशक्तिको आत्मसात् करके भक्तिके रूपमें दे सकता है। यह भगवान्का प्रसाद है। जैसे

---

* यह लेख सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बईके द्वारा प्रकाशित 'चिन्तामणि' नामक पत्रिकामें भी प्रकाशित हो चुका है। 'चिन्तामणि' आध्यात्मिक विषयकी उच्चकोटिकी पत्रिका है। वार्षिक मूल्य चार रुपये हैं। इसका पता है—व्यवस्थापक, सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल', २८ । १६ रिज रोड, बम्बई—६।

भगवान् स्वेच्छामय रूप धारण करके स्वेच्छावतार चरित्रोंसे भक्तजन-मन आवर्जन करते हैं; उसमें स्थूल दृष्टिसे ही भूभार-हरण आदिकी कारणता रहती है, वैसे ही भक्तिके प्राकट्यमें निष्कामकर्म आदि स्थूल दृष्टिसे कारण भी हों तो भी भक्तिकी स्वयंप्रकाशतामें कोई क्षति नहीं है ।

श्रीमद्भागवतमें ही भक्तिका दोनों प्रकारसे उल्लेख मिलता है कि वह योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ आदिसे साध्य नहीं है और साथ ही दान, व्रत, धर्म आदिके द्वारा भक्ति सिद्ध होती है । ज्ञानाङ्गभूता सात्त्विक भक्ति साध्य है, प्रेमाङ्गभूता निर्गुण भक्ति नहीं । इस प्रसङ्गमें दान, व्रत, तपस्या, त्याग आदि भी भगवत्सम्बन्धी ही हैं । यह बात स्पष्ट कर दी गयी है——भक्तिसे ही भक्तिका उदय होता है । इससे भक्ति अहैतुक एवं स्वयंप्रकाश है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

भगवद्भक्ति निःश्रेयस पथ है; उसके बिना धर्म, ज्ञान और योगकी भी सिद्धि नहीं होती । यह बात प्राचीन ग्रन्थोंमें स्पष्टरूपसे कही गयी है । इसका निष्कर्ष यह है कि भक्तिके बिना दूसरे साधन अपना फल देनेमें असमर्थ हैं, परंतु भक्तिको अपना फल प्रेमकी सिद्धिके लिये उन साधनोंकी किंचित् भी अपेक्षा नहीं है । भागवतमें बिना ज्ञान-वैराग्यके भी भक्तिकी श्रेयःसाधनता एवं सर्वधर्मत्यागपूर्वक भगवद्-भजनका निरूपण मिलता है । भक्ति ही निरपेक्ष साधन है और सब सापेक्ष साधन हैं । भगवद्भक्तिके बिना जाति, शास्त्र, जप, तप निष्प्राण हैं एवं लोकरञ्जनमात्र हैं । सब साधन भक्तिके अधीन हैं । जैसे——कर्मयोग न केवल भक्तिकी अपितु देश, काल, पात्र, द्रव्य, अनुष्ठान, पवित्रताकी अपेक्षा रखता है । भक्तिमें देश, काल, वस्तुका कोई भी नियम नहीं है । उच्छिष्ट दशामें भी भगवन्नामका उच्चारण किया जा सकता है । श्रद्धा या अवहेलना, कैसा भी उच्चरित भगवन्नाम संसार-संतरणका साधन है । इसके विपरीत कर्मयोग स्वर-वर्ण-हीन मन्त्रोच्चारण होनेपर अनर्थका हेतु है ।

ज्ञान भी निष्काम कर्मयोग आदिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही उदय होता है । इसलिये वह भी कार्याधीन है । यदि ज्ञानका अधिकारी दैववश दुराचारी हो जाय तो शास्त्रमें उसकी निन्दा मिलती है । कंस, हिरण्यकशिपु, रावणके उपदेश भिन्न-भिन्न अवसरोंपर मिलते हैं; परंतु उनमें ज्ञानका उदय सर्वथा ही नहीं है । इधर व्यक्तिमें ऐसा नहीं है । हृद्रोगी पुरुष भी [illegible] अधिकारी है । उसके द्वारा वह भक्ति प्राप्त करता है । तब हृद्रोग दूर होता है । पहले भक्ति पीछे दोष-निवृत्ति । भक्ति दुराचारीको भी ऊपर उठाती है । विष्णुपार्षदोंने अजामिलके भक्त होनेका निरूपण किया है । कौन नहीं मानता कि पुत्रस्नेहसे ग्रस्त अजामिल अपने पुत्रके लिये भगवन्नामका उच्चारण करके नामाभासकी महिमासे ही कल्याण-भाजन हो जाता है । कर्मयोग आदि साधनोंमें देश, काल, पात्र, अन्तःकरण आदिकी शुद्धि साधक हैं, उनकी विपरीतता बाधक हैं । वे सर्वथा परतन्त्र हैं और भक्ति उन्हें जीवनदान देती है । वे भक्ति-हीन रूपमें न किसीके साध्य हैं, न बाध्य हैं ।

ज्ञानसे भक्ति सिद्ध होती है यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि ज्ञानके फल मोक्षसे भी भक्तिकी श्रेष्ठताका वर्णन मिलता है ।

भगवान् कभी मुक्ति दे देते हैं; परंतु भक्ति नहीं । मुक्त सिद्धोंमें भी नारायण-परायण दुर्लभ है । जैसे स्वयं भगवान् नारायण कभी-कभी इन्द्रको प्रधान और अपनेको गौण——उपेन्द्र बनाकर अपनी कृपालुता ही प्रकट करते हैं । उससे उनमें कोई अपकर्ष नहीं आता । इसी प्रकार भक्ति ज्ञानका पोषण करनेके लिये कभी-कभी अपनेको गौण भी बना देती है । इससे भक्तिकी निम्नता नहीं, अनुग्रहशीलता ही प्रकट होती है । भक्ति ही साधन, भक्ति ही साध्य; इसलिये पुरुषार्थशिरोमणि है । भक्ति भगवान्की स्वरूपभूता है, इसलिये उन्हींके समान परम शक्तिशाली सर्वव्यापक सर्ववशीकारिणी, सर्वसञ्जीवनी, सर्वोत्कृष्ट परम स्वतन्त्र तथा स्वयंप्रकाश है । इसलिये जो भक्तिके बिना अन्यत्र प्रवृत्त होते हैं उनमें प्रेक्षावत्त्वकी न्यूनता है; क्योंकि भगवद्भक्तिके बिना तो मनुष्य-जीवन भी सफल नहीं होता——

'को वै न सेवेत बिना नरेतरम् ।'

(द्वितीय अमृतवृष्टि)

माधुर्यकादम्बिनीमें द्वैतवाद-अद्वैतवाद आदिको अवकाश नहीं है । आप इसके लिये ऐश्वर्यकादम्बिनीके दर्शन चाहें तो कर सकते हैं ।

मनुष्यके करण हैं खेत । इन्हींमें भक्तिकल्पवल्लीका प्रादुर्भाव होता है । कर्म, योग आदि घास-फूसका उसमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता । भावुकजन भ्रमरकी भाँति अन्य फलाभिसन्धिका निरास करके इसका आश्रय ग्रहण करते हैं । इस कल्पवल्लीके मूल [illegible] भगवान्के

प्रति अनन्य अनुकूलता । यह भक्ति स्पर्शमणिके समान अल्प कालमें ही प्राकृत लोहताका त्याग कराकर चिन्मयतारूप शुद्ध स्वर्णभाव प्राप्त करा देती है, जब कन्दलीभावके बाद इसमें साधन नामके दो पत्ते फूट निकलते हैं, तब उनका नाम होता है—'क्लेशघ्नी' और 'शुभदा' ।

ये दोनों ही हृदयमें भगवान्के प्रति लोभका संचार करते हैं और उनके साथ प्रिय, आत्मा, पुत्र आदिका शुद्ध सम्बन्ध-दान करके उसको स्नेहोज्ज्वल बनाते हैं । इस अन्तर्देशका राजा राग ही है; किंतु बाहर-बाहर शास्त्रकी आज्ञासे भजनमें संलग्न होनेके कारण किंचित् रूक्षताका आभास बना रहता है और प्रिय आदि शुद्ध स्नेहसम्बन्ध स्पष्ट नहीं दीख पड़ता, इसलिये वैध नामक राजाका ही अधिकार रहता है । यह बात अवश्य है कि यह वैधी और रागानुगा—दोनों ही भक्ति क्लेशनाशिनी एवं मङ्गलजननी हैं । क्लेश शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश । पापके सभी रूप—प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ और बीज सभी क्लेशके अन्तर्गत हैं । इनका नाश करनेके कारण भक्तिको क्लेशघ्नी कहते हैं । भगवान्से विमुख करनेवाले विषयोंमें वितृष्णा, भगवद्विषयमें तृष्णा और अनुकूलता कृपा, क्षमा, सत्य, सरलता, समता, धैर्य, गाम्भीर्य, मानदत्व, अमानित्व आदि सद्गुण शुभ हैं । इनकी दाता होनेके कारण भक्तिको शुभदा कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ठीक ही कहा गया है कि भगवद्भक्तके जीवनमें सम्पूर्ण सद्गुणोंके साथ देवता निवास करते हैं। भक्तिके अङ्कुरित होनेपर जब ये दोनों दल साथ-ही-साथ उद्गत होते हैं तो उनके विकासमें और वृद्धिमें एक क्रम तो होता है; परंतु उसको सब नहीं समझ सकते, पारखी विद्वान् ही समझ सकते हैं ।

भक्तिके अधिकारीमें सबसे पहले श्रद्धाका उदय होता है । उसका स्वरूप है—शास्त्रप्रतिपादित पदार्थमें दृढ़ आस्था । शास्त्रके अनुसार आचरण करनेका प्रयास और उसके निर्वाहके लिये सादर आकाङ्क्षा । यह स्वाभाविक भी होती है और बलपूर्वक उत्पन्न भी की जाती है । इसके बाद सद्गुरुके चरणारविन्दका आश्रय लेकर सदाचारकी जिज्ञासा और समानशील सत्पुरुषोंके सङ्गमें निवास । इससे भजन-क्रिया होने लगती है । दृढ़ निष्ठा होनेके पूर्व भजन-क्रिया अपने शैथिल्य और परिपूर्णताके तारतम्यसे अनेक रूप ग्रहण करती है । मनकी अवस्थाएँ उत्साहमयी, घनतरला, व्यूढ-विकल्पा, विषयसङ्गरा, नियमाक्षमा तथा तरङ्गरङ्गिणीके रूपमें अपने आश्रय भक्तको छः रूपोंमें दिखाती हैं—

(१) जैसे कोई छात्र शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करे और उसके मनमें ऐसा उत्साह हो कि बस-बस अब थोड़े ही दिनोंमें ऐसा विद्वान् हो जाऊँगा कि लोग मुझे देखकर दंग रह जायँगे । ऐसे ही जब भजन करनेवालेके हृदयमें 'अब भक्ति मिली, अब भक्ति मिली' भजनके साथ-साथ ऐसा उत्साह बढ़ने लगता है, तब उस अवस्थाका नाम 'उत्साहमयी' होता है ।

(२) भक्तिके अङ्गोंका अनुष्ठान प्रारम्भ कर देनेपर भी कभी उनका निर्वाह हो पाता है और कभी नहीं हो पाता, इस प्रकार वह कभी घन होती और कभी तरल । जैसे शास्त्राभ्यासी छात्र कभी अपने अधीत विषयको ठीक-ठीक समझकर प्रसन्न होता है और कभी-कभी बुद्धि गम्भीर विषयमें प्रविष्ट न होनेके कारण रूक्ष और शिथिल हो जाती है । इस अवस्थाका नाम 'घनतरला' है ।

(३) क्या मैं परिग्रहसहित ही रहूँ ? सगे-सम्बन्धियों-को वैष्णव बना दूँ ? घरमें ही रहकर भजन करूँ अथवा सबको छोड़कर श्रीवृन्दावनधाममें चलूँ और बिना किसी विक्षेपके कीर्तन-भजन करूँ और कृतार्थ हो जाऊँ ? अभी सबका त्याग करना उचित है या बुढ़ापेमें ? गृहस्थाश्रमका विश्वास नहीं है । बड़े-बड़े भक्तोंने यौवनमें ही संसारका परित्याग कर दिया है । अब विलम्ब नहीं करना चाहिये; परंतु वैराग्यका बल तो अभी इतना नहीं है । फिर मैं क्या करूँ ? क्या भक्तिके लिये वैराग्य आवश्यक है ? वैराग्यसे भक्ति होती हो तो वह सापेक्ष हुई; परंतु भक्तिसे वैराग्य होता हो तो इसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह तो संतोंका अनुभव ही है । मैं गृहस्थ रहूँ कि विरक्त बनूँ ? जप-कीर्तन ही करूँ या श्रवण ही करूँ ? वैष्णवोंकी सेवाका माहात्म्य भी तो कम नहीं है । इस प्रकार जब मनमें विविध प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं तब उस अवस्थाका नाम 'व्यूढविकल्पा' है ।

(४) मनमें आवेश तो एक ही रहेगा विष्णुका या विषयका । ये भोग मुझे भक्तियोगमें शिथिल कर देते हैं । किन्हीं-किन्हींको छोड़ देता हूँ तो फिर भोगने लग जाता हूँ । पूरा त्याग बन नहीं पाता । विषयभोगका पूर्वाभ्यास बड़ा प्रबल है, संघर्ष चल रहा है । इनमें कभी विषय मनको जीत लेते हैं तो कभी मन विषयको । मनकी इस दशाका नाम 'विषयसङ्गरा' है ।

(५) आजसे मैं इतनी जपसंख्या पूरी करूँगा, इतने दण्डवत्-प्रणाम करूँगा, भक्तजनोंकी यह-यह सेवा करूँगा, भगवत्सम्बन्धसे रहित बातचीत नहीं करूँगा। संसारी चर्चा करनेवालोंकी संनिधि छोड़ दूँगा ? इत्यादि प्रतिज्ञा प्रतिदिन करते रहनेपर भी समय-समयपर उसका टूट जाना, उसके पालनमें असमर्थ हो जाना, इसको 'नियमाक्षमा' कहते हैं। विषयसङ्गरा दशामें विषयके त्यागमें असमर्थता रहती है और नियमाक्षमामें भक्तिके साधन बढ़ानेमें असमर्थता रहती है। यह दोनोंमें एक है।

(६) भक्तिका यह स्वभाव ही है कि जिसके हृदयमें वह आकर विराजमान हो जाती है, उससे सभी लोग प्रेम करने लगते हैं और जब लोग प्रेम करने लग जाते हैं तब सम्पत्ति भी इकट्ठी होने लगती है। **'जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः।'** जब भक्तिके कारण ये विभूति आने लगती हैं, लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि मिलने लगती हैं तब मानो भक्तिलतामें छोटी-छोटी टहनियाँ निकलकर लहलहाने और लहराने लगी हों, इस तरङ्गायमान दशाको ही 'तरङ्गरङ्गिणी' कहते हैं। जैसे—मूल लताकी वृद्धि-समृद्धि एवं साज-सँवारके लिये छोटी-छोटी टहनियोंको काटना आवश्यक है, ऐसे ही भक्तिलताकी इन छोटी-छोटी उपशाखाओंका भी उच्छेद ही कर देना चाहिये। (क्रमशः)

मानव-जीवनका लक्ष्य--भगवत्प्राप्ति

(श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारके एक प्रवचनके आधारपर)

भगवान्ने कहा है—'माया बड़ी दुस्तर है। इस मायासे कोई भी सहजमें पार नहीं हो सकता, परंतु मेरे शरणापन्न व्यक्ति इस मायासे तर जाते हैं।' भगवान्के अतिरिक्त जो कुछ भी है—असत् है, माया है और उसको जीवनसे निकालना है। भगवान्के शरणापन्न होनेपर जीवनमेंसे यह मिथ्यापन निकल सकता है। मानव-जीवनमें यही एकमात्र करने योग्य कार्य है। मानव-जीवनका यही एकमात्र कर्तव्य और उद्देश्य है।

धनकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य जैसे स्वाभाविक ही क्षुद्र-सी भी धनहानिके प्रत्येक प्रसंगसे बचता है और लाभका प्रत्येक कार्य करता है; वह ऐसा इसीलिये करता है कि पैसेके रहने और मिलनेमें अपना लाभ मानता है और जानेमें या न रहनेमें हानि; इसी प्रकार भगवान्का भजन करनेवाला पुरुष भजन होनेमें लाभ तथा न होनेमें हानि मानता है। इसलिये वह स्वाभाविक ही वही करता है जिससे भजन बनता और बढ़ता है, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करता, जिससे भजन नहीं बनता या घट जाता है।

हम सभी आत्यन्तिक सुख चाहते हैं। ऐसा सुख चाहते हैं जो अनन्त हो, परंतु मोहवश चाहते वहाँसे हैं, जहाँ सुख है नहीं। अथवा उससे, जो सुखका बहुत बड़ा स्वाँग तो बनाये हुए है पर है दुःखसे पूर्ण। जहरसे भरी हुई मिठाई मीठी लगती है निस्संदेह, पर वह मारनेवाली ही होती है। जहरका ज्ञान न होनेसे या ज्ञान होनेपर भी स्वादके लोभसे लोग उसे खा लेते हैं। मीठी है तो क्या, उसका घातक प्रभाव तो होगा ही। भोग-जगत् भी ठीक ऐसा ही है। इसीलिये भगवान्ने इन्द्रिय-भोगोंको भोगकालमें अमृतके समान और परिणाममें विषके सदृश मारनेवाला बताया है। **'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।' 'परिणामे विषमिव……'।** भगवान्ने तो इस भोग-जगत्को 'असुखम्', 'दुःखालयम्' और 'दुःखयोनयः' कहा है। अर्थात् यह जगत् सुखरहित है, अनित्य है और वस्त्रालय, विद्यालय, औषधालय-की तरह 'दुःखोंका आलय' है और 'दुःखयोनि'—दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है। इस सुख-रहित, दुःखालय तथा दुःखोंके क्षेत्र जगत्से सुखप्राप्तिकी आशा करके, केवल आशा ही नहीं, आस्था रखकर, हम उसके लिये रात-दिन प्रयत्नशील रहते हैं। यह हमारा बड़ा भारी मोह है। यह आशा, यह आस्था, यह कल्पना वैसे ही मिथ्या है, जैसे जहरको मिटानेके लिये जहरका प्रयोग; अंधकारको निकालनेके लिये दीपकका बुझा देना। तेलकी आशासे बालूको कितना ही पेरा जाय, बालू काजल-सी महीन होकर उड़ सकती है, पर तेल नहीं मिलेगा। इसीलिये नहीं मिलेगा कि उसमें तेल है ही नहीं। जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँसे उस वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सुखरहित भोग-जगत्से सुखकी प्राप्ति असम्भव है। दुःखालय और दुःखयोनि जगत्से सुखकी आशा ही अज्ञान है—मोहान्धकार है।

जगत्से सुख-प्राप्तिकी दुराशामें जीव सतत जगत्का चिन्तन करता है और अपने अंदर अनवरत गंदा कूड़ा भरता चला जाता है। मनुष्यकी अन्तरात्मा जलती रहती है। जागतिक ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न धनी-मानी लोग भी जलते हैं, उच्च राज्याधिकारी और उद्भट विद्वान् भी जलते हैं, शान्तिकी बात करनेवाले उपदेशक और तर्कशील दार्शनिक भी निरन्तर जलते हैं। बड़ी शान्तिके स्थानपर या अत्यन्त शीतप्रधान देशमें अथवा बिजलीके द्वारा ठण्डे किये कमरेमें बैठे रहनेपर भी सदा जलते रहते हैं। वह आग बाहर नहीं भीतर है, जो हमेशा जलाती रहती है। बाहरके किसी साधनसे भीतरकी आग शान्त नहीं हो सकती। भीतरकी इस आगको श्रीतुलसीदासजीने 'याचकता' कहा है। विषयोंके मनोरथकी आगसे—इस 'कामज्वर'से सभी संतप्त हैं। बाहरी चीजोंको बदलने या मिटाने-हटानेसे क्या होगा? जो चीज जला रही है, उसीको जला देना चाहिये। इस याचकताको—भोग-कामनाको भगवान्ने गीतामें 'ज्वर'का नाम दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।

(गीता ३।३०)

'युद्ध करो, परंतु तीन वस्तुओंसे छूटकर। राज्य तथा भोगोंकी आशा छोड़कर, देह तथा देह-सम्बन्धी सारी ममता छोड़कर और कामनाके ज्वरको उतारकर।' कामना रहेगी तो अंदर-ही-अंदर ज्वर बढ़ेगा।

इसीलिये गोस्वामीजीने कहा—'जगत्में किसीसे याचना मत करो; माँगना ही हो तो भगवान् श्रीरामसे माँगो और श्रीरामको ही माँगो। भगवान्को माँगनेका अर्थ ही है—भगवान्की प्राप्ति। सारी शान्ति—सारा सुख भगवान्में ही है; अन्यत्र कहीं है ही नहीं। इसीलिये भगवान्से भगवान्की ही याचना करो—

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकि-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे॥

भोगोंकी कामना और कामनाकी सिद्धिसे सुखकी प्राप्ति—यह मूर्खता है। यह कभी सम्भव नहीं। भगवान्की कृपासे ही शरणागति या ज्ञानकी प्राप्ति होगी। तभी दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति होगी। भोग-कामनाकी अग्नि प्रचण्ड है। विषयोंके सेवनसे, बहुत-से भोगोंसे इसकी शान्ति नहीं होती। अग्निमें जितना ही ईंधन-घृत पड़ेगा, उतनी ही अग्नि भभकेगी। इसीलिये भगवान्ने इस 'कामना'को 'महाशन' कहा—इसका पेट कभी भरता ही नहीं।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी तें।

अशान्तिसे कभी शान्ति मिल नहीं सकती। चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, भोगोंसे सुख मिल नहीं सकता; भले, थोड़ी देरके लिये कोई उसे भूलसे सुख मान ले। भ्रमवशात् सुखके भवन भगवान्को भूलकर लोग भोगोंका ही रात-दिन चिन्तन करते हैं। भोग-सम्बन्धी बातें सुनते-कहते-मनन करते हैं और उसी गंदगीको अपने अंदर भरते चले जाते हैं!

इससे छूटनेके लिये शास्त्रोंने बड़ी सुन्दर युक्ति बतायी है। जो बीत गया, उसपर कोई अधिकार नहीं। 'वर्तमान' साधकके हाथमें है। मनरूपी गोदाममें अबतक जो कूड़ा भरा गया, सो भरा गया। अब उसमें अभीसे भगवद्भावोंको, भगवत्प्रीति-उत्पादक शुभ कर्मोंको भरते जायँ। शुभ कर्मोकी तीव्र सुवास कूड़ेकी दुर्गन्धको दबा देगी और अपनी सुवास फैला देगी।

वर्तमानको सुधार लें तो भविष्य अपने-आप सुधरेगा और भूतकालका भय भी मिट जायगा। हम जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करते हैं, उसकी स्फुरणा पहले मनमें होती है। स्फुरणा संस्कारोंसे होती है और उन संस्कारोंसे होती है जो वर्तमानके नये कर्मोंके होते हैं। जैसे गोदाममेंसे माल निकालना हो तो पहले वह निकलता है जो सबसे ऊपर या सबसे आगे नया भरा हुआ है; इसी प्रकार वर्तमानमें शुभ कर्म करनेपर शुभ संस्कार होंगे, शुभ संस्कारोंसे शुभ स्फुरणा होगी, शुभ स्फुरणासे फिर शुभ कर्म होंगे—इस प्रकार शुभका एक चक्र बन जायगा। शुभ तथा सुन्दर भावोंका साम्राज्य हो जायगा, जो सारे पिछले अशुभ संस्कारोंको दबा लेगा या पीछे ठेल देगा। जिस गोदाममें अबतक लहसुन-प्याज भरा गया, उसमें अब कस्तूरी, कपूर भरना आरम्भ कर दे। गंदी वस्तुको नवीन सुवासित वस्तु पूर्णतः आच्छादित कर लेगी। मनमें पहले उठनेवाली गंदी स्फुरणाएँ तथा संस्कार शान्त हो जायँगे। और यदि कहीं शुभ कर्मोका परिमाण बढ़ गया और उनमें निष्कामभाव आ गया एवं ज्ञानाग्नि प्रकट हो गयी—कपूर अत्यधिक मात्रामें इकट्ठा हो गया और कहीं

दियासलाई लग गयी तो गोदामके नीचे तथा पीछेके भले-बुरे, केसर-लहसुन आदि सभी पदार्थ—शुभ-अशुभ सभी कर्म दग्ध हो जायँगे । भगवान् श्रीकृष्णने (गीता ४ । ३७ में) कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

'ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होते ही सारे शुभ-अशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं ।' अतः साधकको वर्तमानमें अत्यन्त तत्परताके साथ तुरंत भगवत्-साधनामें लग जाना चाहिये ।

जागतिक राग-द्वेषकी चर्चा, भोगोंकी बातचीत मल है—विष है । जहाँतक हो सके, अपनी ओरसे इसकी अनावश्यक चर्चा ही नहीं करनी चाहिये । बोलना अपने अधीन है, सुनना अपने अधीन नहीं । दूसरे जो बोलें, उसे सुनना ही पड़ता है । परंतु यदि मन अन्यत्र लगा रहे, तो श्रवण भी नहीं होगा, सुनकर भी अनसुना रहेगा । अतः वर्तमानमें अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्में समर्पित कर दे । इसमें सावधानीकी आवश्यकता है । साधनाका अर्थ सावधानी है । गिरनेसे आदमी बचता रहे । निरन्तर उठनेकी चेष्टा करता रहे—

उद्धरेदात्मनात्मानं　　　　नात्मानमवसादयेत् ॥
(गीता ६ । ५)

आत्माको कभी गिरावे नहीं । जहाँ भगवच्चर्चा हो, वहाँ मन लगाकर सुनना चाहिये और जहाँ जगच्चर्चा हो, वहाँ सुनना बंद कर दे । कवि ठाकुरने ठीक ही कहा है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख डारि हलाहल बोरो ॥

ठाकुर प्रीतिकी रीति यही हम सपनेहु टेक तजै नहिं भोरो ।
बावरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

दुधमुँहे जहर-भरे घड़ेके समान जगत्के बाहरी गोरेपनको जो आँखें देखती हैं, उनका तो जल जाना ही उचित है । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा कर ली—'कानसे दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी बात करूँगा नहीं । आँखोंको दूसरी चीज देखनेसे रोक दूँगा और मेरा सिर वहीं नमित होगा, जहाँ भगवान् दिखलायी देंगे—

स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं ।
रोकिहौं नैन [illegible] ॥

इसे आदर्श मानकर जहाँतक बने, संसारकी उतनी ही बात सुननी चाहिये, जितनी आवश्यक हो । अन्य बातोंको न सुने, न कहे और न उसमें रुचि ले । परापवादसे, परनिन्दा एवं परस्तुतिसे बचना चाहिये । भागवत-माहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा··· ।

दूसरोंके गुण-चिन्तन करनेसे आसक्ति होगी और दोष-चिन्तन करनेसे द्वेष होगा । ये दोनों ही जगत्में बन्धनकारक हैं । अतः गुण और दोष दोनोंका ही चिन्तन न किया जाय । यदि न रहा जाय तो दूसरेके गुण देखे और अपने दोष देखे । जिसे दूसरेके दोष तथा अपने गुण दिखलायी नहीं देते, वह भाग्यवान् व्यक्ति है और जिसे दिखलायी देते हैं वह मन्दभागी है । वह मन्दभागी दूसरेके दोषोंको देखकर अपनेमें दोषोंका ही संग्रह करता है ।

हम जो कुछ देखते, सुनते, कहते, सूँघते, स्पर्श करते तथा विचार करते हैं, वही हमारे मनमें निवास करता है । यदि मनमें भगवान्को बसाना है तो भगवान्को ही देखना-सुनना-समझना चाहिये । जैसा हमारा मन है, वैसा ही हमारा स्वरूप है ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।
(गीता १७ । ३)

मनके तामसी होनेसे हमारा स्वरूप तामसी होगा और तामसी व्यक्तिकी गति नीची होती है—

'अधो गच्छन्ति तामसाः ।'

जो लोग साधना करना चाहते हैं और अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये समझदारीकी बात यही है कि वे भोग-जगत्से यथासाध्य बचें—जगत्की व्यर्थ चर्चासे बचें । साधकोंके लिये तो परदोष-दर्शन और परदोष-चिन्तन बहुत बड़ा विघ्न है । साधकको अपने दोष-दर्शनसे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय ।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय ॥

श्रीनारायणस्वामीने ठीक कहा है—

तेरे भावें जो करै भलौ बुरौ संसार ।
नारायण तू बैठ कर अपनो भवन बुहार ॥

अपने घरमें झाड़ू लगाओ । गंदी झाड़ू लेकर दूसरेका [illegible] फैलाओगे;

सफाई तो कहाँसे करोगे ? अपना हृदय पहले साफ होना चाहिये ।

हृदयकी स्वच्छताकी कसौटी क्या है—मनमें शान्ति, प्रसन्नता, त्याग, वैराग्य, सौम्यता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, इन्द्रिय-निग्रह, सरलता, समता, निरभिमानिता, नम्रता, भगवान्‌के प्रति चित्तकी वृत्तिका प्रवाह, संसारमें उपरति तथा दैवी-सम्पत्तिके अन्यान्य सद्गुणोंका होना । वह व्यक्ति भाग्यवान् है, जिसके जीवनमें संसार भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त आता नहीं और जरूरत पड़नेपर कठिनतासे लाना पड़ता है । वह देखता है कि जगत् तो है नहीं । गीताका असली मर्म भगवान्‌ने बताया कि जगत् वास्तवमें केवल भगवान्‌से पूर्ण है—'वासुदेवः सर्वमिति ।' यह जगत् जो दीख रहा है, ऐसा यह प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा है नहीं ।

सिनेमा देखते समय पर्देपर सारा संसार दिखायी देता है, पर पकड़नेपर हाथमें नहीं आता । इसी प्रकार यह संसार जो दीखता है, वह दीखता भर है—मिलता नहीं—

'न तथा उपलभ्यते ।'

इसीलिये कि यह मायाका राज्य है । अज्ञानकी कल्पना है । इसमें मनको फँसा लेना मूर्खता है । पढ़ा या बेपढ़ा, जो भी फँसता है, वह मूर्ख ही है । अपठित मूर्खता करता है, परंतु उसमें श्रद्धाके सहज जाग जानेकी सम्भावना है । अतः वह राहपर आ सकता है । किंतु शिक्षित मूर्ख तो प्रायः वज्रमूर्ख होता है । शिक्षितकी मति बिगड़नेपर वह असुर हो जाता है । 'साक्षराः'का उलटा 'राक्षसाः' होता है । भोगासक्त साक्षरके जीवनमें पैशाचिकताका ताण्डव नृत्य होता रहता है । लाखों नर-नारियोंको एक ही साथ जला देनेवाले बमोंके आविष्कारक विज्ञानवेत्ता विद्वान् ऐसे ही असुर-मानव हैं । पिछले दिनों चीनमें अपने ही मतके एक विपक्षीकी लाशको लोग भूनकर खा गये ! यही राक्षसत्व है ।

यह निश्चित बात है कि जहाँ पापमें गौरव-बुद्धि होती है—पापकी सराहना होती है, वहाँ पाप बढ़ता है । जिसके पास पैसा आ गया, वह पैसा चाहे चोरीसे आया हो या लूटसे अथवा अनाचार-भ्रष्टाचार-अत्याचार तथा हिंसासे—उस पैसेवालेको यदि समाजके द्वारा 'बड़ा' माना जाता है और उसका सम्मान होता है तो दूसरे लोग भी वैसा ही 'बड़ा' बनना चाहते हैं । सिनेमाकी अभिनेत्री जो एक साधारण स्तरकी अभिनय करनेवाली, नाचनेवाली स्त्री है, उसको देखनेके लिये भीड़ लग जाती है । इस भीड़में प्रोफेसर भी शामिल होते हैं, अधिकारी भी । यह सब क्या है ? चोर-पूजा होनेपर चोरी और अनाचार-पूजा होनेपर अनाचारका ही विस्तार होगा । यह पतनकी सीमा है, तामसी बुद्धिका प्रत्यक्ष परिचय है, जिसमें अनाचारको सदाचार, बुराईको भलाई और पापको पुण्य समझा जाता है ।

दूसरेके हकका लेना, दूसरेको अभावग्रस्त बनाकर वस्तुका संग्रह करना पाप है । गीता (३ । १३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

'यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं ।' सारे जगत्‌को उसका हिस्सा देकर शेषान्न खानेवालेको अपने यहाँ 'अमृताशी' कहा गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

'जितने धनसे प्राणियोंकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर उसका अधिकार है । जो इससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह चोर है; उसे दण्ड मिलना चाहिये ।' ये शब्द लेनिनके या मार्क्सके नहीं या आधुनिक युगके नहीं, प्राचीन भारतके महान् ग्रन्थ भागवतमें देवर्षि नारदके हैं । जिस देशमें लाखों लोग भूखों मरें, वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, यह पाप है । सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये । उसके भाग्यमें बदा नहीं है—इसीलिये वह अभावसे ग्रस्त है—यह उसके माननेकी बात है । समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोंके माननेकी नहीं । जो सम्पन्न हैं वे अभाव-ग्रस्तोंको दें । अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोंके लिये उदार बनें । धन किसीके पास रहेगा नहीं । सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी । सम्पत्तिमान्‌की सम्पत्ति गरीबोंसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर उस ऋण-को ब्याजसमेत चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिमान्‌का कर्तव्य है ।

सम्पत्ति और जागतिक भोगोंका चिन्तन करनेसे दुर्गति होगी । अन्तकालमें जैसी मति, वैसी गति होती है । जीभके

स्वादवश किसी खाद्यपदार्थका चिन्तन करते हुए मरनेसे किसी टोकरीका कीड़ा और साड़ीका चिन्तन करते हुए मरनेपर किसी कपड़ेका कीट बनना पड़ेगा। अतः बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। जगत्के भोगोंको ललचायी दृष्टिसे न देखे। निरन्तर भगवान् याद रहें।

भोग भगवान्के महत्त्वको घटाते हैं, अतः जीवनमें भोगोंकी स्मृतिको न आने दें। भक्त श्रीहरिदासजीके पास वेश्या गयी। परंतु श्रीहरिदासजीका व्रत था—तीन लाख नामजपका। न नामजपसे फुरसत मिली और न वेश्यासे बातचीत हो सकी। भगवान्से और भगवान्के कामसे मनको, वाणीको, चित्तको फुरसत नहीं मिलने दे। जागतिक विषय अपने-आप कम हो जायँगे। भोगसे जितना ही छूटे और भगवान्में जितना ही लगे, उतना ही मङ्गल है।

अपने सर्वस्वको अपने समेत भगवान्के समर्पण कर दे, यही भगवान्की शरणागति है। जो भगवान्के शरणागत होता है, वही मायासे तरता है। भगवदीय प्रकाशके आते मायाका अन्धकार नष्ट हो जाता है। साधकको चाहिये कि अपनेको निरन्तर भोगोंसे बचाये रक्खे तथा भगवान्में लगाये रक्खे। मन, वाणी और शरीरको सदा भगवान्से संयुक्त रक्खे। इसीमें साधककी बुद्धिमानी है। साधक भगवान्की कृपापर भरोसा रक्खे, दिन-रात भगवान्के अनुकूल आचरण करे, पर अपने पुरुषार्थका अभिमान कभी न करे और रात-दिन अपने इस लक्ष्यको याद रक्खे—जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है।

(प्रेषक—श्रीराधेश्याम बंका)
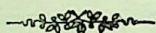
श्यामका स्वभाव—२

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

मेरी जन्मभूमि ग्राममें है। उस ग्राममें और उसके आस-पासके ग्रामोंमें अहीरोंके बहुत घर हैं। अबकी बात नहीं कहता—अब तो नयी सभ्यताकी वायु सबको लग गयी है। अब कहाँ जातीय पंचायतोंमें वह निष्ठा है? बात अपने बचपनकी कह रहा हूँ। तबतक गाँवके लोग सीधे थे, सच्चे थे, ईमानदार थे और उनमें परस्पर स्नेह, सहानुभूति भरपूर थी। तब जाति-भाईका अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण था और अहीरोंमें तो सजातीय होना सगे भाई होने-जैसा था। यह सब इसलिये था कि नवीन शिक्षा, नयी सभ्यता तबतक गाँवोंमें पहुँची नहीं थी। गाँवके लोग सभ्य नहीं बने थे।

अहीर वीर जाति है और साथ ही उपद्रवी जाति भी। अहीर जिसके अपने हैं, उसके अपने हैं और जिसके शत्रु हैं, भगवान् ही उनका कुशल-क्षेम रक्खें। पिताजीको आस-पासके अहीर अपना मानते थे। क्यों मानते थे—पता नहीं; क्योंकि तब मैं बहुत छोटा था। सामान्यतः राजपूतों और अहीरोंमें उस ओर स्पर्धा ही चलती है; किंतु पिताजी इसके अपवाद थे। फलतः अहीरोंके स्वभावके सम्बन्धमें मेरा बाल्यकालका ज्ञान अल्प नहीं है।

किसी अहीरसे किसीका झगड़ा हुआ और उस अहीरको कसकर पाठ पढ़ा देनेकी सूझ गयी। बस, उसे सूझ जानी चाहिये। अहीर तब पढ़े-लिखे नहीं थे और कहा जाता है कि बुद्धि भी कुछ मोटी ही होती थी उनकी। भैंस चराना, दण्ड-बैठक करना, अखाड़ेमें ताल देना, लाठी चलाना—इनमें जो निपुण वह अहीरोंमें श्रेष्ठ। जिसके घर जितनी भैंसें, अहीरोंमें वह उतना धनी। अतः अहीरसे उलझना कोई नहीं चाहता था। कहीं खटपट हो ही गयी किसीसे और उस अहीरको सूझ गयी—बस, सूझना चाहिये।

गाँवसे बाहर खेतमें अहीर अपनी एक झोपड़ी तो रक्खेगा ही। उसकी भैंसें, बैल वहीं बँधेंगे और घरका सबसे पुष्ट तरुण रात्रिको वहीं सोयेगा। घरके दो-तीन व्यक्ति भी वहाँ सो सकते हैं। बँधा समय और बँधा नियम—जिसे किसीपर क्रोध उतारनेकी सूझ गयी है, वह लगभग अर्ध-रात्रिको लाठी लेकर अकेला उठेगा। अपने गाँवमें या समीपके गाँवमें जहाँ भी दूसरे अहीरकी झोपड़ी है वहाँ पहुँचेगा। वहाँ सोनेवालेका पैर या चादर खींचकर उसे जगा देगा और बिना एक शब्द बोले चल देगा। जागनेवाला कुछ पूछेगा नहीं। वह लाठी उठायेगा और जगानेवालेके पीछे हो लेगा।

'मैं इधर जाता हूँ। अमुक-अमुक गाँव तुम्हारे हिस्से!' सौ-दो-सौ पद जाकर जगानेवाला पीछे देखकर पीछे आनेवालेको कह देगा और आगे बढ़ जायगा। पीछे आनेवाला बताये ग्रामकी ओर बढ़ जायगा। इतना और उसे जगानेवाला

कहता जायगा—'दो या तीन घड़ीमें अमुक स्थानपर सब आ जायँगे।'

अब आगे क्रम यह कि जो किसीको जगायेगा, उसे यही संदेश देगा और अपने हिस्सेके गाँवोंमेंसे कुछ उसके हिस्से कर देगा। दो-तीन घड़ीमें निश्चित स्थानपर लाठी लिये अहीरोंका एक समुदाय एकत्र हो जायगा। कितने व्यक्ति एकत्र होंगे, यह तो जिसने एकत्र करना प्रारम्भ किया था, उसकी इच्छापर है। वह दस पर्याप्त मानता हो तो दस और पाँच सौ मानता हो तो पाँच सौ। उसने कितने गाँव, कितने झोपड़ोंके लोगोंको एकत्र करना चाहा, इसपर संख्या निर्भर है।

वे एकत्र लोग कुछ पूछेंगे नहीं। एकत्र करनेवाला क्या करायेगा, यह उसकी इच्छा। खेत उखड़वा दे, घर-खलिहान फुँकवा दे, लाठी बजने लगे रातको प्रतिपक्षीके सिरपर········कुछ भी जो एकत्र करनेवाला चाहे। 'ऐसा क्यों?' कोई नहीं पूछेगा। एक अहीर ऐसा चाहता है—अहीरोंके लिये इतना पर्याप्त था।

मैं नहीं कहता कि यह कोई भली बात थी या है। अब तो अहीरोंमें ऐसा संगठन रहा नहीं है। अब तो उनमें अच्छे सुशिक्षित लोग हैं। अब उन्हें 'ऐसा क्यों? किसलिये?' पूछना आ गया है। वे बड़ी त्वरासे सभ्य होते जा रहे हैं। मैं तो उस समयका एक यथार्थ वर्णन कर रहा था और यह वर्णन इसलिये कि नन्दबाबा भी गोप—अहीर ही हैं और उनका लड़का पढ़ा-लिखा नहीं है। इसे आधुनिक सभ्यताकी वायुने स्पर्श नहीं किया है। इससे परिचय करना है तो इस अहीरके लड़केका स्वभाव समझ लेना आपके हितमें होगा।

'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि।'

इस नन्दकुमारने महाभारतयुद्धसे पहले स्पष्ट कह दिया अर्जुनसे—'अर्जुन! जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है। तुम्हारा मित्र वह मेरा मित्र और तुम्हारा शत्रु वह मेरा शत्रु!'

यह गोपकुमार कन्हाई 'क्यों? किसलिये?' करना जानता नहीं है। इसे दो टूक निर्णय करना आता है—'जो अपने हैं, वे अपने हैं। जो अपनोंके विरोधी हैं, वे अपने भी विरोधी हैं।'

'अपने कभी अपराध नहीं करते।' अद्भुत मान्यता है अहीरकी। सामान्य अहीर इस मान्यतासे चूक सकता है, किंतु व्रजराजका कुमार कभी चूकता नहीं। इसे अपनोंके दोष दीखते ही नहीं। इस नटखटको छोड़िये, मर्यादा-पुरुषोत्तमकी चर्चा करते गोस्वामी तुलसीदासजीको कहना पड़ा—

जेहि अघ बधे ब्याध जिमि बाली। पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

श्रीरामके हृदयमें स्वप्नमें भी नहीं आया कि सुग्रीव-विभीषणसे कोई भूल भी हुई है। अपनोंके दोष देखनेका स्वभाव ही नहीं है।

साहिब होत सरोष, सेवक के अपराध सुनि।
अपने देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरे॥
'समदरसी मोहि कह सब लोगू।'

सब लोग कहते हैं कि 'ईश्वर समदर्शी, न्यायनिष्ठ है।' लेकिन यह बात क्या परम सत्य है? ऐसा नहीं है—

तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

जो भक्त नहीं हैं, जो इस गोपकुमारके अपने नहीं हो गये हैं, उनके सम्बन्धमें यह परम समदर्शी है। लेकिन जो इसके अपने हो गये हैं, उनका सम्बन्ध जहाँ आया, वहाँ सारी समदर्शिता एक ओर पटक देता है यह। भक्तपक्षपाती भगवान् है—शास्त्रको भी यह स्वीकार करना ही पड़ा है। जहाँ भक्तकी बात आयी, इस भगवान्को न न्याय दीखता, न अन्याय। इसे तो केवल भक्त दीखता है।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं परतन्त्र-गुलामकी भाँति अपने भक्तोंके पराधीन हूँ। साधुभक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। अतः मुझे तो यही सूझता है कि भक्तोंका प्रिय कैसे हो। मैं उनका ही प्रिय हूँ।' सबका प्रिय होनेकी कोई सनक इन महामहिमको है नहीं—यह आप स्मरण रखिये।

यह भी स्मरण रखिये कि भक्तापराध—भक्तविरोधकी लेशमात्र गन्ध श्रीकृष्णको आपेसे बाहर कर देती है। 'कोई मेरे अपनेका विरोध करता है।'

उसने क्यों विरोध किया, दोष दोनोंमें किसका—यह सब कुछ नहीं। दोष भले सब भक्तका ही हो; किंतु वह भक्त है न। उसका विरोध करनेका साहस किसीने कैसे

किया ? अब लीजिये, ये अहीर-नन्दन अपने स्वभावपर उतर आये हैं और इनका प्रतिकार करनेकी शक्ति है किसीमें ?

बालिके समस्त उलाहनोंके विरुद्ध श्रीरामने जब फटकार दिया—

मम भुजबल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी ॥

'तू इतना अधम ! इतना अभिमान तेरा कि मेरा आश्रित है सुग्रीव, यह जानकर भी उसे मारना चाहता था !' बेचारे बालिके समीप इसका कोई उत्तर नहीं था ।

अच्छा, सौभरि ऋषिका क्या दोष था ? वे वृन्दावनके यमुनाके समीप ह्रदमें तप करते थे जलमें डूबे रहकर। स्वाभाविक है कि प्राणी जहाँ रहता है—अपने आस-पासके प्राणियोंसे उसे सहानुभूति हो जाती है। ऋषि-मुनि तो क्या साधारण सत्पुरुष भी चाहते हैं कि उनके आस-पास कोई किसीको कष्ट न दे । कोई आखेट न करे ।

गरुड़ आये और उन्होंने सौभरिके तपोह्रदसे सबसे बड़ी मछली पकड़ ली। ऋषि सौभरिने मना किया। माना कि गरुड़ बहुत भूखे थे; किंतु क्या दो-चार क्षण भी वे क्षुधा सह नहीं सकते थे ? उनका वेग तो वायुसे भी तीव्र है। संसारमें और कहीं मछली-कछुए थे ही नहीं ? लेकिन गरुड़ ठहरे सर्वेश्वर श्रीनारायणके वाहन। वे क्यों किसीकी सुनने लगे ? उन्होंने वहीं उस मत्स्यको उदरस्थ किया ।

'यदि गरुड़ यहाँ कभी फिर आकर कोई मछली पकड़ेगा तो तत्काल प्राणहीन हो जायगा।' ऋषि सौभरिने शाप दे दिया ।

कोई दोष है इसमें ऋषिका ? कहीं क्रोध है इसमें । गरुड़का कुछ बिगाड़ा उन्होंने ? यह शाप तो केवल इस अपने तपोवनको सुरक्षित करनेके लिये ही है न या और कुछ ?

लेकिन इस अहीरके लड़केका कोई क्या करे। 'गरुड़ मेरे और इस तपस्वीका इतना साहस कि जान-बूझकर गरुड़-को मेरे आश्रितको शाप देगा ।'

लो, गोपकुमार अपने स्वभावपर उतर आया। 'तुम तपके बलसे गरुड़को शाप दोगे ? तपके बलसे मछलियोंकी रक्षा करोगे ? इस ह्रदमें गरुड़को भोजन नहीं मिलेगा और मछलियाँ पालोगे तुम ? मैं तुम्हारे तप और तुम्हारी मछलियोंको देखता हूँ ।'

गरुड़ने शापका कुछ बुरा नहीं माना था। गरुड़ने कुछ नहीं कहा अपने आराध्यसे किंतु गरुड़ कहें—इसकी आवश्यकता ? उनका आराध्य जो अपनोंको अपनी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं करता। अब जब वही कुछ करनेको उतर आया—किसीका तप-किसीकी शक्ति उसे रोक लेगी ?

जिन मछलियोंकी रक्षा की सौभरिने, उन्हींकी क्रीड़ाने उनको तपोभ्रष्ट किया। जलमें डूबे रहकर तप करते थे सो जाकर राजा मान्धाताकी पचास कन्याओंसे विवाह किया उन्होंने और बाबाजी बच्चे पालनेमें लग गये !

सौभरि-ह्रदमें आया कालियनाग। जलमें मछलियाँ या अन्य जल-जीव तो क्या बचते, ह्रदके ऊपरसे उड़नेवाले पक्षीतक कालियके विषकी गन्धसे मूर्छित होकर गिरते और मर जाते। जिस ह्रदको सौभरि जलजीवोंके लिये निरापद करने चले थे, वह नभचरोंतकके लिये परमापद बना दिया गया। यह सब हुआ सौभरिके साथ और गरुड़ने भी कुछ किया था—यह देखनेवाला कोई नहीं ।

× × ×

सनकादि कुमार भगवान् नारायणके दर्शन करने वैकुण्ठ गये । वैकुण्ठमें भी रोक-टोक हो तो वह अभयधाम कैसा ? लेकिन जय-विजयने बेत फटकार दिया। कुमारोंको क्रोध आया, उन्होंने शाप दे दिया—'तुम नारायणके द्वारपाल होकर भी रोक-टोक करते हो। उद्दण्ड व्यवहार करते हो ! जाओ असुर हो जाओ !'

भगवान् नारायण स्वयं द्वारतक आये। उन्होंने कुमारों-से क्षमा माँगी। उनके शापका अनुमोदन कर दिया। सीधी दृष्टिसे बहुत मर्यादापूर्ण घटना दीखती है। लेकिन तनिक विश्लेषण करके देखिये ।

'जय-विजयका क्या बिगड़ा ?' उनका कुछ बिगड़ा नहीं; क्योंकि एक बार जो श्रीहरिका हो गया उसका त्रिकालमें कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उसका कभी कुछ बिगड़ने-वाला है नहीं। जय-विजय तीन जन्म असुर हुए तो त्रिलोकी-के मूर्धन्य रहे। वे सुरोंके भी सेव्य बने रहे और तीनों जन्मोंमें अपने आराध्यके हाथों मरे ।

जय-विजय जब हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष हुए, जब रावण-कुम्भकर्ण हुए, जब शिशुपाल-दन्तवक्र हुए—कौन-सा पुण्य किया उन्होंने ? देवता, ब्राह्मणोंके शत्रु रहे वे। पर-पीड़न, धर्मद्रोह, अन्याय-अत्याचार करनेमें कुछ उठा रक्खा उन्होंने ? दूसरा कोई जीव उनके कर्मोंका शतांश अपकर्म भी करे—महारौरवमें भी उसे स्थान मिलेगा ? लेकिन किसी अन्याय-अधर्मने कुछ बिगाड़ा उनका ?

यह अहीरपुत्र—यह इतना ही जानता है कि एक बार जो कह दे—'मैं तुम्हारा' वह इसका हो गया और तब—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।'

मर्यादापुरुषोत्तम बनकर आनेपर भी कितने दृढ़ स्वरमें घोषणा करते हैं 'जो एक बार भी शरणमें आकर कह देता है—'मैं आपका' उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह तो मेरा व्रत है।'

उसने क्या किया, कैसा है वह, आगे क्या करेगा, कैसे रहेगा, ऐसी कोई शर्त या खोजबीन नहीं। उसने कहा—'मैं तुम्हारा।'

आप कहते हैं—'इस क्षणसे तुम त्रिलोकीमें निर्भय।' यह है आपका व्रत। अब कोई उसको भय देने चले तो अपना आश्रय ढूँढ़े। उसके लिये महाभय—उसकी रक्षा भला अब कौन कर लेगा ?

हाँ—सनकादि कुमार भी परम भक्त थे, यही कुशल थी। पता नहीं कोई अभक्त होता तो उसका क्या होता; किंतु जय-विजयद्वारा फटकारे जानेपर उन्होंने उन द्वारपालों-की प्रार्थना नहीं की, उनको शाप दे दिया। क्या परिणाम हुआ ?

'मेरे द्वारपालोंकी स्तुति नहीं कर सकते तो असुरोंकी स्तुति करो।' यह विधान उनके साथ भी हो गया। जय-विजय हुए हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु। जय-विजय वैकुण्ठमें भगवत्पार्षद थे। उनकी स्तुति—वह भी दो-चार क्षणकी; किंतु हिरण्यकशिपुकी राज्यसभामें उस दैत्येश्वरकी स्तुति तो नित्य-नित्य और सहस्रों वर्षोंतक करनी पड़ी। सनकादिके कारण उनके सब भाइयोंको, ब्रह्माजीके सब पुत्रोंको, प्रजापतियों और नारदजीको भी दैत्यराजकी स्तुति करनी पड़ी।

यह स्वभाव है गोपका और श्याम गोपकुमार है। आप उसके हैं तो आपकी चित्त और पट दोनों। आप सर्वत्रसे निर्भय और आप उसके नहीं हैं तो आपकी बुराई तो बुराई है ही, अच्छाई भी अच्छाई बननेमें सफल तभीतक है—जबतक आप उसके किसीसे उलझनेसे बचे रहें। अन्यथा बड़े-बड़े उसके अपनोंके आगे सिर उठाते ही पटकनी खा जाते हैं।

बुद्धिमानी तो इसमें है कि आप इस गोपकिशोरके हो रहें।

असारता

(१)

माथाका अमोघ चक्र चलता सदा है 'गुरु'
प्राणोंका विमोह नित्य होता मनमाना है।
तृष्णाकी विशाल तूल-राशिमें फँसा है चित्त
जीवनकी समाधिपर, होड़-सी लगाना है॥
मानता इसीमें विश्व, शान्तिका अखण्ड योग
भावना विहीन होके, कल्पना जगाना है।
मैंने तो लगाये गोते दुःखके समुद्रमें ही,
कहते किसे हैं सुख, आज लौं न जाना है॥

(२)

विश्वकी विडम्बनामें, साधना समाप्त होती
युगका विकास यों ही, होता नित जाता है।
अन्तिम विभाका चन्द्र मण्डल विहीन होता
स्वत्वका प्रमाद कब, शेष रह पाता है॥
मानव उसीमें निज, शक्तिको समष्टि कर
हार पर हार खाके, नेक न अघाता है।
साथमें न जाता 'गुरु', विश्वका प्रपंच रंच
अन्तमें जहाँका तहाँ, पड़ा रह जाता है॥

गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री

अभिमान एक मानसिक रोग और उसका इलाज

(लेखक—प्रो० श्रीजी० सी० राव महोदय, अध्यक्ष केमिस्ट्री विभाग, एस्० एम्० एम्०, डी०-वी० कालेज, वलिया)

इतिहासमें अभिमानी लोगोंके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। प्रायः ऐसे लोगोंमें कुछ विशेष प्रकारकी क्षमता होती है जिसको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देनेके कारण वे अभिमानी हो जाते हैं और कुछ तो यों ही अज्ञतावश अभिमानमें चूर रहते हैं। प्रकृति माँको जब इन अपने अभिमानी बच्चोंपर दया आती है, तब उनके इस रोगका इलाज वह स्वयं बहुत चतुराईसे करती है। इससे सामान्यतः उनका सुधार होता है। जो सुधरनेसे इन्कार करते हैं, उनको प्रकृति माताके कठोर दण्डका भोग करना पड़ता है। कुछ विरले ही इससे बच पाते हैं।

सम्राट् अकबरके जीवनकी एक घटनाका यहाँ उल्लेख करना उचित ही होगा, जिसको कई वर्ष पहले मैंने एक पत्रिकामें पढ़ा था। एक दिन अकबर एक मन्दिरके पास पहुँचा और उसे बंद देखकर जोरसे चिल्लाने लगा—'दरवाजा खोलो। मैं सम्राट् अकबर आया हूँ।' परंतु इसका कोई उत्तर नहीं मिला। पुनः उच्च स्वरमें अकबरने अपनी आज्ञाको दोहराया, पर कोई सफलता नहीं मिली। तब एकाएक उनके भीतरी मनकी प्रेरणासे एक भिन्न आवाज नम्र स्वरसे निकली—'दरवाजा खोलिये—मैं अकबर आया हूँ।' दरवाजा खुल गया। अभिमानके नष्ट होते ही आत्माका द्वार खुल गया। आत्मासे निकली आवाज विश्वके चराचर समस्त पिण्डोंके लिये एक अनुल्लङ्घनीय आज्ञा हो जाती है। आश्चर्यकी बात यह है कि मन्दिरमें कोई था नहीं। दरवाजा अपने-आप खुल गया। आत्माकी पुकारको दरवाजा भला कैसे न मानता ?

एक बार शिवाजी एक बहुत बड़ा दुर्ग बनवा रहे थे, जिसमें हजारों आदमी कार्य करते थे। यह देखकर शिवाजीके मनमें यह अभिमान पैदा हुआ कि मेरे द्वारा कितने आदमियोंका भरण-पोषण हो रहा है। यह समाचार उनके गुरु समर्थ रामदासजीके पास पहुँच गया। स्वामीजी तुरंत शिवाजीके पास गये। शिवाजी चकित स्वरसे बोले—'गुरुदेव ! इस समय आपका एकाएक बिना सूचना भेजे कैसे पधारना हुआ ?' स्वामीजीने कहा—'मैं तुम्हारी महत्ता देखने आया हूँ। यह जो बड़ा पत्थर दिखायी पड़ रहा है, इसके तुम दो टुकड़े करा दो।' गुरुजीकी आज्ञा पाते ही एक मनुष्यने पत्थरको बीचसे तोड़ना प्रारम्भ किया। पत्थर टूटा और इसके बीचके खोखले भागसे एक मेंढकी निकल पड़ी। बुद्धिमान् व्यक्तिके लिये संकेत पर्याप्त है। शिवाजी गुरुजीके उद्देश्यको समझ गये। उन्होंने समझा कि पत्थरके अंदर जो ईश्वर इस मेंढकीका भरण-पोषण करता है, वही इन हजारों आदमियोंका भी करता है। मैं मिथ्या अभिमान कर रहा था। शिवाजीने अपने गलत विचार और अभिमानके लिये उनसे क्षमा माँगी।

गुरु गोरखनाथ एक सिद्ध योगी और तपस्वी थे। इन्हींके नामपर गोरखपुर शहरका नाम पड़ा। कहते हैं कि एक बार इनको कुछ अभिमान हो गया और ये अपनेको अपने गुरुसे भी बड़ा समझने लगे। देवर्षि नारदजीको यह बात मालूम हो गयी और वे उचित समयकी प्रतीक्षा करने लगे, जिसमें इनका अभिमान नष्ट किया जाय। गुरु गोरखनाथके पास एक अलौकिक शक्ति यह थी कि वे मृत मनुष्योंको अपने योगबलसे जीवित कर देते थे। एक दिन किसी परिवारमें एक बालक मर गया और परिवारके लोग बालकके शवको गुरु गोरखनाथजीके चरणोंमें रखकर बोले—'योगिराज ! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं और आप चाहें तो एक क्षणमें हमारा बालक जीवित हो जायगा। हम आपसे दयाकी भीख माँगते हैं और इसके लिये हम आजीवन आपके आभारी रहेंगे।' गुरु गोरखनाथजीके हृदयमें करुणा जाग्रत् हो गयी और उन्होंने चित्तको एकाग्र करके बालकके शवको आदेश दिया—'तुम जीवित हो जाओ, यह मेरा आदेश है।' परंतु यह आदेश निष्फल रहा और बालकमें कोई चेतना आती हुई दृष्टिगोचर नहीं हुई। आवेशयुक्त इस आदेशको उन्होंने बार-बार दोहराया पर कोई फल नहीं हुआ। इतनेमें उस स्थानपर नारदजी आ गये और उन्हें पता लगा कि गुरु गोरखनाथके योगबलने समयपर धोखा दे दिया। गोरखनाथका अभिमान दूर करनेके लिये नारदजीको एक अच्छा अवसर मिल गया।

नारदजीने गुरु गोरखनाथसे कहा—'गुरुको धर्मग्रन्थोंमें बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। तुम अपने गुरुके नामपर आदेश देकर देख लो। शायद इससे वह बालक

जीवित हो जाय।' नारदजीके उपदेशानुसार गुरु गोरखनाथ एकाग्रचित्त होकर बोले—'मेरे गुरुजीका आदेश है। तुम जीवित हो जाओ।' यह आदेश पाते ही बालकमें चेतना आ गयी और बालक एवं उनके परिवारके लोग गुरु गोरखनाथको प्रणाम करके अपने घर लौट गये। गोरखनाथजीने अपने अज्ञान और अभिमानके लिये पश्चात्ताप किया और उस दिनसे उनको अपने गुरुके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति अधिक हो गयी।

चैतन्य महाप्रभु बंगालके एक महान् संत और भक्ति-धर्मके प्रवर्त्तक थे। बंगालके लोग उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका अवतार मानते हैं। वे भक्त ही नहीं, बल्कि एक उच्च कोटिके विद्वान् भी थे। इस महान् भक्तके जीवनसे सम्बन्धित एक रोचक और उपदेशपूर्ण घटना उल्लेखनीय है।

केशवाचार्य नामक एक पण्डित सरस्वतीकी उपासनाके बलसे महान् आशु-कवि बने और घूम-घूमकर प्रत्येक देशके पण्डितोंको ललकारने लगे। सरस्वतीकी कृपासे उनको सदा विजय मिलती गयी। इससे उनके अभिमानका कोई ठिकाना नहीं रहा। वे भ्रमण करते हुए चैतन्य महाप्रभु (गृहस्थके समयके निमाई पण्डित) की नगरी नवद्वीप पहुँचे और वहाँ लोगोंसे चैतन्य महाप्रभुकी विद्वत्ताके विषयमें सुना। तुरंत केशवाचार्यजी महाप्रभुके पास पहुँचे और शास्त्रार्थ करनेके लिये ललकारने लगे। महाप्रभुकी विनतीपर इन्होंने स्वरचित श्लोकोंको सुनाया। पाठ समाप्त होते ही चैतन्य महाप्रभुने उनके श्लोकोंके समस्त व्याकरण-सम्बन्धी दोषोंपर टीका-टिप्पणी करके समझाया और केशवाचार्यजीको निरुत्तर कर दिया। अपमानसे लज्जित होकर केशवाचार्यजी घर लौटे, रातभर खूब रोये और अपनी उपास्यदेवी शारदाको भी भला-बुरा कह दिया। रोते-रोते उनकी आँखें लाल हो गयीं और अन्तमें वे सो गये।

उस रात स्वप्नमें वीणा-पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी उन्हें दिखायी पड़ीं और उनको सम्बोधित करते हुए डाँटनेके स्वरसे बोलीं—"केशव! मैं तुम्हारी उपास्या देवी सरस्वती हूँ। तुमको जिसने पराजित किया, वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका अवतार है, जिनको हमारा और तुम्हारा क्या, सारे विश्वका कोई भी बल परास्त नहीं कर सकता। विद्याके अभिमानमें तुम विद्याके मौलिक लक्षणों और प्रयोजनोंको भूल चुके हो। विद्याका मौलिक लक्षण 'विनय' है और उसका एकमात्र प्रयोजन 'अहंका नाश' है। तुम इसी समय जाकर उनसे क्षमा माँगो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है।" माँ सरस्वतीके आदेशानुसार केशवाचार्यजी चैतन्य महाप्रभुके पास गये और स्वप्नका सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। चैतन्य महाप्रभु चकित हो उठे और विनय एवं प्रेमभरे शब्दोंमें उनसे बोले—'आचार्यजी! भगवान् कृष्णका अवतार कहकर मुझे लज्जित मत कीजिये। मैं तो उनका केवल एक छोटा-सा भक्त हूँ। दो-एक दोष रहनेसे क्या होता है? आप एक उच्च कोटिके विद्वान् कवि हैं और इसलिये मेरे आदरके पात्र हैं। मुझसे कोई सेवा चाहते हों तो आप निःसंकोच आदेश दे सकते हैं।' केशवाचार्यजीने उनसे भक्तिका उपदेश पाकर शेष जीवन भगवत्-सेवामें बिताया।

स्वामी विवेकानन्दके नामसे सभी पाठकगण भलीभाँति परिचित हैं। इन्होंने ही हिंदू-धर्मकी ज्योतिको विश्वभरमें फैलाया। परिव्राजक-जीवनमें एक स्थानपर जगन्माताके जीर्ण-शीर्ण मन्दिरकी दुर्गति देखकर इनको दया एवं क्रोध आया और वे आवेशमें कहने लगे—'मैं समझता हूँ कि यहाँपर रहनेवाले लोग बिल्कुल निकम्मे हैं। इन लोगोंने इस मन्दिरके उद्धार-कार्यके लिये कुछ नहीं किया। यदि मैं यहाँ होता तो इस मन्दिरकी दशा ऐसी कभी नहीं होने देता।' जगन्माता-को अपने पुत्रके अभिमानभरे शब्द अच्छे नहीं लगे और उसी क्षण उन्होंने दर्शन देकर उनको सम्बोधित करते हुए कहा—'मेरी कृपाके कारण ही तुझे कुछ अलौकिक शक्तियाँ मिली हैं। धिक्कार है तेरे अभिमानको। तू अपनेको क्या समझता है? क्या तेरे बिना मेरे मन्दिरका उद्धार नहीं हो सकता! क्या मुर्गाके बाँग न देनेपर सूर्यका उदय नहीं होगा? तुझे इस प्रकारकी गलत धारणाओंको अपने मनमें कभी आने नहीं देना चाहिये। मेरे संकल्पमात्रसे जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय होता है और तू एक छोटा-सा प्राणी होकर भी अभिमान करता है।' यह कहकर जगन्माता अदृश्य हो गयीं और स्वामी विवेकानन्दके ज्ञान-नेत्र खुल गये।

एकान्त स्थानमें एक वृक्षके नीचे आचार्य कौशिक एकाग्र-मनसे वेद-पाठ कर रहे थे। इतनेमें पेड़परसे एक बगुलीने आचार्य कौशिकपर बीट कर दी; जिससे उनका ध्यान भङ्ग हो गया। क्रोधभरी दृष्टिसे अहित-चिन्तन करते

हुए उन्होंने बगुलीको देखा तो उनकी क्रोधाग्निसे जलकर बेचारी बगुली क्षणभरमें ही भस्म हो गयी। कौशिकको अपनी शक्तिपर अभिमान हो गया तथा शक्ति-प्रदर्शन करनेकी क्षुद्र इच्छा उनमें आ गयी।

संध्याको वे भिक्षाटनके लिये निकले और एक पतिव्रता नारीके द्वारपर पहुँच गये। पतिव्रता नारी उस समय अपने पतिकी सेवामें लगी थी। इसलिये भिक्षा-लाभमें कुछ विलम्ब हुआ। कौशिकको उस देवीपर क्रोध आया और भस्म करनेकी धमकी देते हुए उसपर घूरना प्रारम्भ किया।

गृहिणी भी अपने इष्टका ध्यान करती हुई ब्राह्मणकी ओर देखती रही। समय काफी हो गया; परंतु कौशिकके घूरनेका प्रभाव तनिक भी उस नारीपर नहीं पड़ा। पतिव्रता देवीने बताया कि 'मैं वह बगुली नहीं जो तुम्हारे क्रोधानलसे जल जाऊँगी।' कौशिकको हार माननी पड़ी। उस पतिव्रता नारीकी सच्ची तपस्याकी प्रशंसा करते और अपने अभिमान-पर लज्जित होते हुए कौशिकने उससे क्षमा-याचना की। क्रोध और अभिमानको त्यागकर कौशिक फिर अपनी तपस्यामें लग गये।

लगभग १२ वर्ष पहलेकी बात है, जब कि मैं अपने कुछ मित्रोंके साथ मेरे गुरुजी पूज्य श्रीदेवरहवा बाबाके दर्शन करनेके लिये लाररोड स्टेशनपर उतरकर बाबाजीके स्थानपर पहुँचा। हमलोग उनके उपदेश सुन ही रहे थे कि इतनेमें एक अभिमानी राजपूत वहाँ आकर बाबाजीके अहिंसा-सिद्धान्तपर व्यङ्ग्य करते हुए बोले—'बाबाजी! आप मांस-भक्षणके विरोधी हैं; परंतु आपको मालूम होगा कि दुनियाके अधिकांश लोग मांसाहारी हैं। मांस-भक्षणसे मनुष्यमें वीरता, शक्ति और पराक्रम आ जाता है। पशुओंमें भी मांसभक्षी पशुओंसे अन्य पशु काँपते रहते हैं। अशोकके बाद ही हमारे देशका पतन हुआ; क्योंकि उन्होंने अहिंसा-वादका प्रचार करके देशके लोगोंको कायर और नपुंसक बनाया।' इतना कहकर वह राजपूत व्यक्ति ऐसे देखने लगे मानो उन्होंने बाबाजीको परास्त कर दिया हो और उस समय उनकी दृष्टिमें व्यर्थका अभिमान भी झलक रहा था।

बाबाजीने इन बातोंको ध्यानसे सुना और अन्तमें कहा—'बच्चा! तुम्हारी बातोंमें केवल वीरता है, परंतु सत्य नहीं। तुम कहते हो कि मांस खानेवाले पशुओंमें वीरता अधिक होती है। तुमको मालूम होगा कि सियार भी मांस खाता है परंतु वह सबसे अधिक डरपोक और कायर जानवर है। मांस-भक्षणका असर इस जानवरपर क्यों नहीं पड़ा? हाँ, तुम यह तर्क दे सकते हो कि वह मरे हुए पशुओंको खाता है परंतु शेर-जैसे पशु, जो जीवित पशुओंको खाते हैं, वे वीर होते हैं। अगर यही बात है तो बिल्ली जिंदे चूहोंको खा डालती है; परंतु यह भी सबसे कायर है। यही बात शक्तिकी। तुम जानते हो कि हाथी शुद्ध शाकाहारी पशु है, परंतु सबसे बलवान् है। गाजीपुरके मंगलाराय नामक पहलवान भी मांस नहीं खाते हैं और तुमसे अधिक पराक्रमी और बलवान् हैं। व्यक्तियोंकी वीरता उनके संस्कार, साधना आदि अनेक बातोंपर निर्भर रहती है, न वातावरण कि मांस-भक्षणपर। तुमने बचपनमें पढ़ा होगा कि परशुरामजी शाकाहारी थे, गुस्सेमें आकर (२४ बार) क्षत्रियकुलका नाश किया। उस समय उन समस्त राजाओंकी वीरता और शक्ति कहाँ भाग गयी थी। बिना सोचे-समझे कभी नहीं बोलना चाहिये और जिस पशुबलको तुम बल समझकर अभिमान कर रहे हो वह तो आध्यात्मिक बलके सामने कुछ भी नहीं है।' बाबाजीकी इन बातोंको सुनकर उन राजपूत व्यक्तिने अपने मिथ्याभिमानपर लज्जित होकर क्षमा-याचना की। फिर वे प्रणाम करके चले गये।

अभिमान स्वयं तो एक अवगुण है ही और साथ ही वह असंख्य अवगुणोंको उपजानेवाला क्षेत्र भी है। विश्वका इतिहास अभिमानी लोगोंके अत्याचारकी कहानियोंसे भरा पड़ा है। हिटलरको अपनी शक्तिपर अभिमान हो गया और यही पिछले विश्वयुद्धका मूल कारण था। उस युद्धमें कितने निरपराधी लोगोंके प्राण गये, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। अभिमान मनुष्यको अत्याचारी, पर-निन्दापरायण, पर-अहित-परायण इत्यादि बना देता है। रावणके घमण्डने उसको अत्याचारी बनाया और उसने पर-नारी-अपहरणका पापकर्म जान-बूझ-कर किया।

साधारण अनुभवमें यह बात आती है कि कभी-कभी मनुष्य अपने महत्त्वको और बढ़ानेके लिये दूसरोंकी निन्दा करनेका या दूसरोंको नीचा दिखानेका प्रयत्न करता है और यह दूसरोंको बदनाम करनेके लिये कोई भी पत्थर बिना उलटे नहीं छोड़ता है। ... सत्य और सन्मार्गका

दर्शन न होना—इसके मूल कारण हैं। महर्षि विश्वामित्रके जीवनमें अभिमान और उसके हननके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। महर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षिकी उपाधि पानेके लिये महर्षि वसिष्ठके पास कई बार पहुँचे, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। अपने तपोबलके अभिमानके कारण विश्वामित्रने वसिष्ठके सभी पुत्रोंको मार डाला और वसिष्ठको भी मारनेके लिये एक दिन उनकी कुटियापर पहुँचे। उस समय महर्षि वसिष्ठ अपनी पत्नीसे विश्वामित्रके महान् गुणोंकी प्रशंसा कर रहे थे। यह बातें आड़से सुनकर विश्वामित्रको बड़ा विस्मय हुआ कि कहाँ तो मैं इन महात्माके इतने पुत्रोंको मारकर आज स्वयं इन्हें भी मारने आया और कहाँ ये जो एकान्तमें अपनी पत्नीके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा कर रहे हैं। वे घोर पश्चात्तापकी अग्निमें शुद्ध होकर तुरंत वसिष्ठके चरणोंपर गिर गये तथा उनसे क्षमा-याचना करने लगे। महर्षि वसिष्ठने उसी समय उन्हें उठाया और ब्रह्मर्षि कहकर सम्बोधित किया; क्योंकि अभिमान, क्रोध आदि दुर्गुणोंसे मुक्त होनेके कारण आज विश्वामित्र ब्रह्मर्षि-पदके अधिकारी हो गये थे।

संसारके महापुरुषोंमें सदा ही सरलता, आडम्बरहीनता, अभिमानशून्यता और विनम्रता पायी जाती है। आंग्लभाषाके सार्वभौम कवि शेक्सपियर (Shakespeare) ने अपने ज्ञानकी तुलना समुद्रके किनारोंमें पाये जानेवाले कुछ पत्थरोंके टुकड़ोंसे की और यह स्वीकार किया कि ज्ञानसागरमें अनगिनत रत्न भरे पड़े हैं। सुकरात (Socrates) जो अपने जमानेके सबसे बड़े बुद्धिमान् पुरुष माने जाते थे; परंतु उन्होंने यह स्वीकार किया कि जो कुछ उन्होंने जीवन-भरमें सीखा वह ज्ञान 'नहींके बराबर' है। सबसे गरीब मनुष्यसे एकता स्थापित करना (Complete identification with the poorest of mankind) भारतके राष्ट्रपिता एवं भारतीय जनताके प्रतिबिम्ब महात्मा गाँधीजीके जीवनका आदर्श था। भारतीय प्राचीन संस्कृत साहित्यके अमर कवि भर्तृहरिका इस विषयका अनुभव सुनिये—

> यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥
> (नीतिशतकम् ८)

'जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान रखता था तब मुझे यह अभिमान हो गया था कि मैं सर्वज्ञ हूँ तथा मेरा मन उसी प्रकारसे अभिमानसे पूर्ण हो गया कि जैसे हाथी अपने मदमें चूर हो जाया करता है। किंतु जब मैंने कुछ-कुछ विद्वानोंकी सङ्गति प्राप्त की तब मैं यही समझ सका कि वस्तुतः मैं महामूर्ख हूँ तथा मेरा सम्पूर्ण अभिमान उसी प्रकार शरीरसे बाहर निकल गया कि जैसे ज्वरके रोगीका ज्वर शरीरसे निकल जाया करता है।'

अन्तमें मैं परम सुहृद् भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि वे हम सब लोगोंको अभिमान-जैसी अहितकर मनोवृत्तियोंसे सदा दूर रहनेकी शक्ति दें और निरन्तर हम सही पथपर चलें।

सबके सुहृद् बनो

जहाँ 'घृणा' 'संदेह' भरा है, वहाँ 'प्रेम' दो, दो 'विश्वास'।
जहाँ 'दोष' हो 'क्षमा'-दान दो, 'अन्धकार'में भरो 'प्रकाश'॥
दो 'निराश'को 'आशा' निश्चित, 'भयपीड़ित'को 'अभय'-प्रदान।
करो 'विषादपूर्ण' मानवको 'घनानन्द'का निर्मल दान॥
दो 'मुर्झाये मन'वालेको अति उल्लासजनक 'उत्साह'।
जाग्रत् करो हृदयमें जन-जनके प्रिय 'प्रभु-रतिकी शुचि चाह'॥
सबमें हरि हैं, सब हरिमें हैं, सब हरिकी लीलाके रूप।
बनो सभीके सेवक, सबके सुखद, हितैषी, सुहृद अनूप॥

वस्तुका सच्चा मूल्य क्या है ?

[कहानी]

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'राजन् ! एक साधु अतिथि द्वारपर खड़े हैं । श्रीमान्‌के दर्शन करनेके इच्छुक हैं । बहुत देरसे आग्रह कर रहे हैं कि उन्हें आपके पास आने दिया जाय ।'

'अतिथि कौन हैं ? कैसे हैं ? पता नहीं क्यों यहाँ आये हैं ?'

'साधुवेश, भगवाँ वस्त्र, हाथोंमें कमण्डलु और चिमटा, लम्बे केश, उत्सुक मुखमुद्रा और जिज्ञासु मनवाले एक साधु आपसे मिलनेको आतुर हैं । जरूरतके समय ही कोई किसीके पास आता है, अन्नदाता !'

'तुम्हारा मतलब है कि वे यहाँ भिक्षाके इरादेसे आये दीखते हैं ।'

'जी, पर वे कोई मामूली भिखारी नहीं मालूम होते । पहुँचे हुए महात्मा हैं । शायद दर्शनके अभिलाषी ।'

सभामें बैठे हुए सभाजनोंने प्रार्थना की कि अतिथिको एक बार मिलनेका अवसर दिया जाय । सबका मन रखनेके लिये उदार राजाने साधुको अंदर आनेकी स्वीकृति दे दी ।

सब लोग उनके आगमनकी बाट देखने लगे । कैसे हैं महात्मा ? क्या-क्या कहते हैं ? क्या चाहते हैं राजासे ! सबका मन जिज्ञासाओंसे भरा था । ये साधु राजदरबारमें कैसे भूल पड़े हैं ?···और विरक्त पुरुषकी माँग भी क्या हो सकती है ?

इतनेमें सौम्य मुद्रा तथा भव्य गेरुवाँ वस्त्रोंमें एक विचारशील साधुने राजदरबारमें प्रवेश किया ।

अतिथिका व्यक्तित्व दिव्य उद्देश्योंके वैभवसे उद्दीप्त था । चेहरेसे तेज टपक रहा था । राजा एकाएक प्रभावित हो उठा । उसने उनका विनीत स्वागत करते हुए मधुर स्वरमें कहा, 'आपके दर्शनसे धन्य हुआ···महात्मन् ! आज मुझपर अनायास ही कैसे यह कृपा की ?'

राजाके स्वरमें आकर्षणभरा सौहार्द था । महात्माके प्रति असीम आदरका भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था ।

साधुने उत्तर दिया—

'मैंने आपकी विद्वत्ता, योग्यता, विवेकका विमल यश सुना था । अब आपका शिष्टाचार देखकर मनमें संतोषका अनुभव कर रहा हूँ । आपके मधुर वचनों, स्वागतमयी मुद्रा तथा प्रेमश्रद्धामिश्रित आदर-सत्कारसे आत्मा प्रसन्न हो गयी है । क्या कहूँ ?'

सुनकर राजा प्रसन्न होकर बोला—

'महात्माजी ! मैं मानता हूँ कि राजा हो या साधारण आदमी, अधिकारी हो या अधीनस्थ कर्मचारी, आदमीको सभीसे सभी जगह शिष्टाचारका पालन करना चाहिये । सबसे मधुर शिष्ट व्यवहार मेरी आदत बन गयी है ।

'राजन् ! आपका विचार ठीक ही है । सद्-व्यवहार, सदाचार आदि हमारे धर्मके अङ्ग हैं । शिष्टाचारी मन, वचन और कर्म किसीसे किसीको हानि नहीं पहुँचाता । वह दुर्वचन कभी नहीं बोलता, न मनसे किसीका बुरा चाहता है । आपको अपनी उच्च स्थितिका घमण्ड नहीं, यह बात मुझे बहुत पसंद आयी है, अन्यथा राजालोग तो पद और ऊँची स्थितिके अभिमानके कारण मुँह तकसे नहीं बोलते ।'

राजा बोला, 'किसी भी तरहके अभिमानके लिये शिष्टाचारमें गुंजाइश नहीं रहती ।'

इतना ही नहीं, महात्माने बातोंमें रस लेते हुए कहा— शिष्टाचारी पुरुषकी सम्पदा, समृद्धि बढ़नेके साथ ही उसकी निरभिमानता, नम्रता और विनयशीलता बढ़ती ही जाती है ।···आपमें भी······।'

राजा बीचमें ही बोल उठा, 'जी मैं इस प्रशंसाके योग्य कहाँ हूँ भला । आप केवल आत्मभावके कारण मेरी यों प्रशंसा कर रहे हैं ।'

'नहीं, नहीं, सो बात नहीं है ।'

'तो फिर, क्या बात है महात्माजी ?'

'प्रत्यक्षको प्रमाणकी क्या आवश्यकता ! जिस तरह फलोंके बोझसे पेड़ नीचे झुक जाते हैं, उसी तरह आप-जैसे भले आदमियोंकी लौकिक सम्पदाएँ ऐश्वर्यके बढ़नेपर भी नम्रता और विनयशीलतासे बढ़ जाती हैं ।'

यह बात सुनकर राजा प्रसन्न हो गया ।

अब क्या था, खुशीमें राजाने विवेकी अतिथिकी बड़ी खातिर की। उन्हें इधर-उधरकी अनेक दर्शनीय वस्तुएँ दिखलायीं। और तो और, राजा साधुकी योग्यता और व्यवहारसे इतना प्रसन्न हुआ कि उसे अपना रत्न-भण्डार ही दिखाने लगा। भावुकता मनुष्यको कहीं-से-कहीं पहुँचा देती है।

रत्नभण्डारकी छवि अनोखी थी।

अहह ! चारों ओर धनसम्पदा, स्वर्णमुद्राएँ, चाँदी-सोनेकी बड़ी-बड़ी ईंटें रक्खी हुई थीं। तरह-तरहके कीमती रत्न करीनेसे इधर-उधर जमे हुए थे। ऐसे मूल्यवान् हीरे, मोती, नीलम, माणिक, पन्ने आदि कीमती रत्न किसीको कब देखनेको मिलते हैं ? एक-एक पत्थरकी कीमत लाखों रुपये होगी। उस खजानेमें जानेसे पहले न जाने कितने सतर्क पहरेदारों और जागरूक सैनिकोंको पार करना पड़ता था। उनकी सुव्यवस्था-सुरक्षाके लिये राज्यकोशका बहुत-सा धन खर्च किया जाता था। राजाको अपने इस विपुल समृद्ध रत्नभण्डारपर विशेष गर्व था।

रत्नभण्डार दिखाकर राजाने प्रतिक्रिया जाननेके लिये साधुकी मुखाकृतिकी ओर देखा। उसपर प्रसन्नताकी रेखाएँ आकाशमें चमकते नक्षत्रोंकी भाँति स्पष्ट थीं। राजाकी आत्मा मत्त मयूरकी भाँति नाच उठी।

'जरूर साधुको मेरा समृद्ध रत्नभण्डार पसंद आया है। मेरे द्वारा सहेजकर रक्खे हुए इन हीरों, मोतियों, नीलमों, पन्नों आदि मूल्यवान् रत्नोंसे वह प्रभावित हो रहा है।'

यह सोचकर राजाको तृप्तिका शीतल अनुभव हुआ। वह साधुके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुननेको आतुर हो उठा।

'कहिये, साधुप्रवर ! आपको रत्नभण्डार कैसा लगा ?' उसने उत्सुकतासे पूछा। साधु अभीतक चुप था। शायद किसी गहन चिन्तनमें डूबा था।

'क्यों महात्माजी ! क्या बात है ? शब्द आपकी जिह्वापर क्यों अटके हुए हैं ! कहिये आपकी प्रतिक्रिया क्या है ?......'

'मेरी एक शंका है···एक छोटी-सी जिज्ञासा—अनुमति दें, तो एक बात पूछ लूँ ?'

'हाँ, हाँ, शौकसे पूछिये न !'

'महाराज ! इन कीमती पत्थरोंसे आपको सालभरमें कितनी आय हो जाती होगी ?' प्रश्न विचित्र था। साधुको आयसे भला क्या सम्बन्ध ?

राजाको एकाएक हँसी आ गयी। अतिथि एक वैरागी है। दुनियाँ छोड़ चुका है···इसे दुनियाँकी धन-सम्पदा, रत्न, मूल्यवान् हीरोंका क्या पता ? यह उनकी कीमत भला क्या जाने ? देखनेमें ये हीरे, मोती, नीलम आदि बहुमूल्य रत्न कितने छोटे-छोटे हैं, पर इनका मूल्य करोड़ों रुपयोंमें आँका जाता है। एक हीरेका मूल्य बड़ी जमीन-जायदाद खरीद सकता है। एक मोतीसे आदमीका पूरा जीवन मजेमें कट सकता है। एक नीलम बड़े उत्सवमें खर्चके लिये यथेष्ट है···और यह मूर्ख साधु; इन पत्थरोंसे प्राप्त होनेवाली आय पूछता है ? सांसारिक ज्ञानमें यह कैसा शून्य है ! छिः ! छिः !

राजा यह सब सोचकर बोला—

'महात्माजी ! इन रत्नोंसे तो कुछ भी आय नहीं होती, उलटे इन बहुमूल्य रत्नोंकी रक्षाके लिये बहुतसे पहरेदार और सैनिक तैनात करने पड़ते हैं। इनकी चोरीका बड़ा डर रहता है। डकैत, बदमाश, लुटेरे यहाँ डकैती करनेके नये-नये तरीके सोचते रहते हैं। इन्हें लूटने-खसोटनेमें एक-दो हत्या भी हो जाय, तो वे शौकसे कर बैठते हैं। इन रत्नोंकी सुरक्षाके लिये राज्यका बहुत-सा धन खर्च करना पड़ता है। इनमेंसे कई मूल्यवान् रत्न तो मुझे मेरे पूर्वजोंसे धरोहरके रूपमें मिले हैं। मैं उनकी बड़ी हिफाजत रखता हूँ। वे बहुमूल्य रत्न कई पीढ़ियोंसे शाही खजानेमें सुरक्षित हैं। किसी काममें नहीं आते, पर मैं उन्हें सहेजने-सँभालनेमें ही गर्वका अनुभव करता हूँ। राज्यकी अमूल्य निधि मानता हूँ।'

राजा सोच रहा था कि उन शाही रत्नोंकी कीमत और प्रशंसा सुनकर वह साधु भी उनकी प्रशंसा अवश्य करेगा।

किंतु यहाँ कुछ और ही बात थी।

क्या बात थी वह ?

एकाएक साधुने एक सुझाव उपस्थित किया—

'राजन् ! मैंने आपके रत्नभण्डारके कीमती पत्थरोंको देखा···किंतु···क्षमा कीजिये—मैं आपको इन सबसे अधिक कीमती और बड़ा······इनसे बहुमूल्य पत्थर दिखलाना चाहता हूँ···।'

'इन पत्थरोंसे बड़ा···इन सबसे कीमती रत्न ? क्या कह रहे हैं साधु ?' यह प्रस्ताव सुनकर राजाको तो जैसे बिजलीका करेन्ट ही मार गया। सौ-सौ बिजलियाँ उसके मानसमें कौंध उठीं !

कहाँ ले जायगा ? मुझसे अधिक धनी इस राज्यमें दूसरा कौन हो सकता है, जो इन सब रत्नोंसे बहुमूल्य पत्थर अपने पास रक्खे ? राजाको जिज्ञासा हुई। उसने सोचा—'अवश्य इन सबसे बड़ा और अधिक मूल्यवाला पत्थर देखना चाहिये।'

वह साधुके साथ जानेको राजी हो गया।

अब साधु आगे-आगे और भावुक किंतु अभिमानी राजा उसके पीछे-पीछे जा रहा था। अमीरोंकी इमारतें धीरे-धीरे समाप्त हो गयीं। फिर मध्यवर्गके मुहल्ले शुरू हुए। चलते-चलते मध्यवर्गके घर भी खतम ''और लीजिये, गरीबोंकी विवशतापूर्ण बस्ती चालू हो गयी। दीन-हीन गरीबोंके कच्चे टूटे-फूटे मकान''सबकी गिरी हुई अवस्था''सर्वत्र आर्थिक विवशताके मूर्तिमान् स्वरूप''।

यह सब देखकर राजाके मनमें आया—'यहाँ इस निर्धन बस्तीमें साधु मुझे कहाँ ले जा रहे हैं ? शायद इधर जमीनमें गड़ा हुआ कोई गुप्त खजाना है, जिसमें मुझसे अधिक कीमती रत्न एकत्रित हैं।'

दुर्गन्ध और आस-पासकी गंदगीके कारण वह नाक-भौं सिकोड़े चला जा रहा था।

अकस्मात् साधु एक जगह रुके। अरे, यह किसका मकान है ?

'राजन् ! क्षमा करें'—साधुने एक जीर्ण-शीर्ण झोपड़ीकी ओर संकेत कर कहा—'वह कीमती बड़ा पत्थर इसी झोपड़ीमें है।'

'ठीक, शायद इसी झोपड़ीमें गड़ा हुआ होगा। मेरा अनुमान सत्य है।' राजाने मन-ही-मन सोचा।

झोपड़ी किसी गरीब वृद्धाकी थी।

'आइये राजन् ! झोपड़ीमें चलें !' साधुने आवाज लगायी—'माजी, आपके घर राजा पधारे हैं।'

वृद्धा लकड़ी टेकती-टेकती झोपड़ीसे बाहर निकली।

'आइये, आइये ! मेरे धन्य भाग्य, जो राजा मुझ निर्धनकी टूटी-सी झोपड़ीमें पधारे हैं। मैं नहीं जानती किस प्रकार आपका स्वागत-सत्कार करूँ ?' वृद्धा यह कहकर भौंचक्की-सी रह गयी।

'हम दोनों आपकी झोपड़ीमें जाना चाहते हैं !'

'शौकसे आइये, अंदर पधारिये। मेरी झोपड़ीको पवित्र कीजिये।'

दोनों अतिथि भीतर गये।

अंदर क्या था ? गरीबीका क्रूर ताण्डव। मजबूरीका विकराल स्वरूप। एक टूटी-सी खाट''कुछ फटे चिथड़े''आलोंमें मिट्टीके काले कुरूप बर्तन''टाटका बिछौना''एक कोनेमें मिट्टीका टूटा-सा चूल्हा''कुछ अधजली लकड़ियाँ''और वृद्धाकी आटा पीसनेकी चक्की ! बस''इतना संक्षिप्त स्वरूप।

वृद्धा अपनी गरीबीपर लज्जित-सी एक ओर खड़ी थी।

'महाराज ! मैं आपकी प्रजामें एक गरीब निःसहाय वृद्धा हूँ। कोई सहारा नहीं। बड़ी आर्थिक विवशताके दिन काट रही हूँ। जो कुछ अनाज दया कर गाँववाले दे देते हैं, कूट-पीसकर पेटका गड्ढा भर लेती हूँ।'

साधु उस चक्कीकी ओर संकेत करते हुए बोले—

'राजन् ! ये पत्थर आपके उन रत्नभण्डारोंमें सहेजकर रक्खे हुए पत्थरोंसे अधिक बड़े और कीमती हैं। इन्हींको दिखलाने मैं आपको इतनी दूर लाया था।'

राजा आश्चर्यमें डूबा हुआ था !

'महात्माजी ! यह किस तरह ? मेरे हीरे-जवाहिरातोंका मूल्य तो इनसे कहीं अधिक है। किसी भी जौहरीसे मूल्याङ्कन करा लीजिये।'

साधुने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'इन पत्थरोंके द्वारा यह निराश्रित विधवा अपना जीवन-निर्वाह कर लेती है। वस्तुका महत्त्व उसके बाहरी रंग और रूपमें नहीं, वरं उसकी जीवनमें उपयोगितासे समझना चाहिये।'

तर्क सुनकर राजा सोच-विचारमें पड़ गया।

उसका दृष्टिकोण बदल गया। चिन्तनकी एक नयी दिशा दिखायी देने लगी।

अब वह सोच रहा था, वास्तवमें ये असंख्य बहुमूल्य हीरे और मोती मेरे लिये बेकार बोझ ही तो हैं। ये मेरे कोई काम नहीं आते हैं। बस, एक तिजोरीसे दूसरी तिजोरीमें सदा बंद ही तो पड़े रहते हैं। मेरे पूर्वज भी इन्हें यों ही इकट्ठा करके मेरे लिये छोड़ गये हैं। ये उनके लिये भी बेकार ही पड़े रहे थे''किंतु वृद्धाकी चक्कीमें लगे हुए पत्थर प्रतिदिन आटा पीसकर वृद्धाके काम आते हैं। वस्तुका महत्त्व उसके काम आनेपर ही तो है, अन्यथा सब व्यर्थ ही है। दरअसल साधु ठीक ही कहते हैं कि 'वस्तुका महत्त्व उसके बाहरी रंग और रूपसे नहीं, बल्कि उसकी उपयोगितासे समझा जाना चाहिये।'

मधुर

मथुरामें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा उद्धवसे वृन्दावनके माता-पिता नन्द-यशोदा, वहाँके गोप-बाल-सखा तथा प्रेममयी गोपाङ्गनाओंकी प्रेमचर्चा करते हुए उनसे कहने लगे कि 'वहाँके सभी लोग मुझसे बड़ा प्रेम करते हैं, उनका स्नेह सच्चा है, पर वे मेरे वियोगसे अत्यन्त दुखी हैं।' इस तरहकी बातोंको सुनकर उद्धवजीके मनमें उनको जाकर देखने तथा उन्हें उपदेश देकर उनका दुःख दूर करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई, उसी प्रसंगका यह एक चित्र है—

माधव-सखा मनीषी उद्धव
सहज ज्ञान-विज्ञान-निधान।
सदाचार-रत शुचितम नैष्ठिक
वाग्मी सुप्रसिद्ध विद्वान॥
हरिसे सुनकर ब्रजकी बातें
उनके मन आया आवेश।
कहा—'मिटा दूँगा मैं उनका
दुःख वहाँ जा, दे उपदेश'॥
बतलाया हरिने इङ्गितसे
उद्धवको गोपिका-महत्त्व।
ज्ञान-गर्व कुछ था, इससे वे
समझ नहीं पाये परतत्त्व॥

माधवके सखा उद्धव मनीषी, सहज ही ज्ञान-विज्ञानके भण्डार, सदाचारपरायण, परम पवित्र, निष्ठावान्, सुवक्ता तथा सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा व्रजकी बातें सुननेपर उनके मनमें आवेश आ गया और वे कहने लगे—'मैं वहाँ जाकर उपदेश देकर उनका सारा दुःख मिटा दूँगा।' (भगवान् श्रीकृष्णने जानेकी अनुमति दे दी; क्योंकि वे श्रीराधाजी तथा गोपाङ्गनाओंका महत्त्व तथा परम प्रेमतत्त्व उद्धवको दिखलाना चाहते थे, परंतु जाते समय) संकेतसे उन्हें गोपदेवियोंका महत्त्व बतला भी दिया कि 'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणोंवाली हैं, मेरे लिये अपने शरीरके सारे सम्बन्ध त्याग चुकी हैं—वे मुझको ही अपना प्रिय, प्रियतम और आत्मा मानती हैं।—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥

परंतु उद्धवजीमें कुछ ज्ञानका अभिमान था, इससे वे गोपाङ्गनाओंके परम तत्त्वको समझ नहीं पाये।

पहुँचे व्रज बाबा-मैयासे
मिले, देख उनका शुचि स्नेह।
देख बालकोंकी गति उद्धव
चकित थकित हो गये विदेह॥
गलित-ज्ञान-गौरव उद्धव व्रज-
वनिताओंके आये पास।
देख श्याम-रसमय शुचि जीवन
मन-ही-मन हो गये निराश॥
क्या सिखलाऊँगा मैं इनको—
प्रेम दिव्यतमकी ये मूर्ति।
नहीं अभाव-कामना कुछ,
जिसकी हो इनको इच्छित पूर्ति॥
त्यागमयी प्रतिमा ये सचमुच,
कृष्ण-प्राण-मनसे संयुक्त।
इनके सम्मुख ज्ञान छाँटना
है निश्चय अज्ञान, अयुक्त॥
तदपि गोपिका-मुख-निःसृत रस-
सुधा दिव्यका करने पान।
मचल उठे ज्ञानी उद्धवके
प्राण-चित्त-मन दोनों कान॥

उद्धवजी वृन्दावन पहुँचकर नन्द बाबा और यशोदा मैयासे मिले, उनके पवित्र (निष्काम कृष्णसुखार्थ त्यागमय) स्नेहको देखकर और फिर गोपबालकोंकी (प्रेम-पूरित) गतिविधि देखकर वे चकित हो गये, उनकी बुद्धि हार खाने लगी और वे देहकी सुधि भूल गये। उद्धवजीके ज्ञानका गौरव (अभिमान तो इन्हें देखकर ही) गलित हो गया, (फिर वे) गोपाङ्गनाओंके समीप आये।

(उनकी सारी स्थितिका निरीक्षण-परीक्षण-समास्वादन सादर किया।) उन्होंने श्रीगोपाङ्गनाओंके पवित्र (सर्वथा आत्यन्तिक त्यागयुक्त) श्रीश्यामके प्रेम-रसमय जीवनको देखा। तब वे मन-ही-मन निराश हो गये (ज्ञानदानकी कोई योग्यता ही अपनेमें नहीं दिखायी दी, उन्होंने निश्चय किया—) मैं इन प्रेमकी दिव्यतम (जहाँ किसी भी छोटे-बड़े कैसे भी स्वसुखकी किसी प्रकारकी भी कामना-वासनाकी कल्पनाका भी लेश-गन्ध नहीं है) मूर्तियोंको क्या ज्ञान सिखाऊँगा। इनमें न किसी अभावकी कल्पना है और न कोई ऐसी कामना-कल्पना है जिसकी ये पूर्ति चाहती हों। सचमुच ये तो श्रीकृष्णके प्राणोंसे प्राणवती हैं और श्रीकृष्णके मनसे ही मनस्विनी हैं। ये प्रत्यक्ष त्यागमयी सजीव प्रतिमा हैं। इनके सामने ज्ञान बघारने जाना निश्चय ही अज्ञान है और अनुचित है। तथापि (उद्धवका मन वहाँसे जानेका नहीं हुआ) श्रीगोपाङ्गनाओंके श्रीमुखसे निकले हुए दिव्य रसामृतका पान करनेके लिये उन ज्ञानी उद्धवके प्राण, चित्त, मन और दोनों कान मचल उठे।

अति विनम्र वे बैठ निकट,
फिर करने लगे विविध आलाप।
देख-देख गोपीजन-मुख-
भंगिमा खो गये निजमें आप॥

फिर वे अत्यन्त विनम्रताके साथ श्रीगोपाङ्गनाओंके समीप बैठकर विविध वार्तालाप करने लगे और बातचीतके समय श्रीगोपियोंकी मुखभंगिमाको निरख-निरखकर वे अपने-आपमें ही खो गये (भूल गये—मैं कौन कहाँ हूँ। फिर चेत होनेपर—)

कहने लगे राधिकासे फिर
कर अभिनन्दन आदर मान।
हरिने भेजा मुझे आपको
देने यह संदेश महान॥

गये साथ अक्रूर चचाके
मथुरा कंसयज्ञके हेतु।
राज-रजक बधकर पहने सब
नूतन वसन, उड़ा यशकेतु॥
धनुष भंग कर, मारे मुष्टिक
तथा मल्ल चाणूर विशाल।
गज कुबलया कदन कर, मारे
मामा कंस वीर विकराल॥
माता-पिता देवकीजी
वसुदेव हुए फिर कारामुक्त।
प्रणत हुए उनके श्रीचरणों-
में हरि आदर-श्रद्धायुक्त॥
उग्रसेनका किया कृष्णने
फिर सिंहासनपर अभिषेक।
त्राण किया द्विज-साधुवर्गका,
रखी धर्मकी पावन टेक॥
अज, अविनाशी, अखिल भुवनपति,
ब्रह्म परात्पर सर्वाधार।
दुष्कृतनाश, साधु संरक्षण-
हित लेकर मानव अवतार॥
करते धर्म-स्थापना वे पर
रहते सदा स्वमहिमा-लीन।
चिदानन्दघन घट-घटवासी
सम माया-ममतासे हीन॥
कहलाया है—'मोह त्याग कर
करो निरन्तर मनमें ध्यान।
ब्रह्मरूपका जो व्यापक निर्गुण
निरुपाधि नित्य निर्मान॥

तदनन्तर श्रीराधाजीका अभिनन्दन तथा आदर-सम्मान करके उनसे कहने लगे कि—'श्रीकृष्णने मुझे आपको यह महान् संदेश देनेके लिये भेजा है। वे यहाँसे चाचा श्रीअक्रूरजीके साथ कंसके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने राज्यके धोबीको मार दिया और नवीन राजकीय वस्त्र धारण करके अपने साहसके यशकी ध्वजा फहरा दी। फिर कंसके धनुषको तोड़कर बड़े विशालकाय और महान् बलवान्

पहलवान मुष्टिक और चाणूरको मार डाला। फिर कुवलयापीड़ नामक गजराजका कचूमर निकालकर बड़े भयानक वीर मामा कंसका वध किया। तदनन्तर उनके माता-पिता श्रीदेवकी और श्रीवसुदेवजी कारागारसे छूटे, तब श्रीकृष्णने श्रद्धा-समादरके साथ उनके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने उग्रसेनका सिंहासनपर राज्याभिषेक किया। इस प्रकार (असुरोंका संहार कर) ब्राह्मण तथा साधुहृदय लोगोंको बचाया और धर्मकी पवित्र मर्यादाकी रक्षा की। भगवान् श्रीकृष्ण अजन्मा, अविनाशी, अखिल विश्वब्रह्माण्डोंके अधीश्वर, परात्पर ब्रह्म हैं। वे ही सर्वाधार हैं। वे दुष्कृतोंका नाश और साधुओंका परित्राण करनेके लिये मानव-अवतारके रूपमें प्रकट होकर धर्मका संस्थापन करते हैं। ये सब करते हुए भी वे सदा अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे चिदानन्दघन हैं। समरूपमें घट-घटमें निवास करते हैं और माया-ममतासे रहित हैं। उन्होंने आपलोगोंसे कहलाया है कि तुमलोग मोहका त्याग करके मेरे ब्रह्म-रूपका ध्यान किया करो, जो सर्वव्यापक, निर्गुण, उपाधिरहित, नित्य और अनन्त है।

सुन उद्धवकी बात
विस्मय-विथकित राधिका।
हर्ष-प्रफुल्लित गात
बोलीं—मधुर सरल बचन॥

उद्धवजीकी बात सुनकर (प्रियतम वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको नित्य समीप साथ देखनेवाली) श्रीराधिका एक बार तो आश्चर्य-चकित और थकित-सी रह गयीं (कि ये किसकी बात कहते हैं, प्रियतम हमारे साथ हैं, फिर ये किसका संदेश सुनाने आये हैं—फिर श्यामसुन्दर प्रियतमका संकेत पाकर) हर्ष-प्रफुल्लित शरीरसे (आनन्दमग्न होकर) बड़े मीठे मधुर और सरल (जिनमें कहीं भी बनावट नहीं है ऐसे) शब्दोंमें कहने लगीं—

उद्धवजी ! हम समझ न पायीं
आप सुनाते किसका हाल।
कौन ब्रह्म व्यापक निर्गुण
निरुपाधि कुवलयाके हैं काल॥
आकर श्रीअक्रूर ले गये
जिनको मथुरा अपने संग।
रजक-प्राणहर, वसन पहनकर,
किया जिन्होंने धनुका भंग॥
होंगे कोई वीर जिन्होंने
मार दिये मुष्टिक चाणूर।
वध कर कंस नरेश किये
वसुदेव-देवकीके दुख दूर॥

उद्धवजी ! हम समझ नहीं पा रही हैं, आप यह किसकी बात हमें सुना रहे हैं। वे ब्रह्म व्यापक निर्गुण उपाधिरहित कौन हैं और कौन कुवलयापीडको मारनेवाले हैं ? श्रीअक्रूरजी जिनको मथुरा अपने साथ ले गये, जिन्होंने धोबीके प्राण हरणकर नये वस्त्र पहनकर धनुषका भङ्ग किया, जिन्होंने मुष्टिक और चाणूरको मार दिया एवं जिन्होंने कंसराजाका वध करके वसुदेव-देवकीके दुःख दूर कर दिये—वे कोई वीर पुरुष होंगे।

नहीं जानते उद्धवजी ! वे
प्रियतम-श्याम नित्य मनचोर।
रहते आठों याम हमारे
भीतर-बाहर शुचि सब ओर॥
ललित त्रिभङ्ग अङ्ग सुषमानिधि
गुणनिधि शुचि सौन्दर्यनिधान।
नव-नव नित माधुर्य, मुरलिधर,
मोर मुकुटधर, शोभाखान॥
गुंजमाल, लकुटी कर शोभित,
अधरोंपर मधुमय मुसकान।
वन-वन विचरण कर देते वे
जीवमात्रको शुचि रसदान॥
आते सदा घरोंमें प्यारे,
खाते वे नित माखन चोर।
देख देख, उनकी लीला हम
रहतीं नित आनन्दविभोर॥

कालिन्दीके फूल खेलते,
मधुर मनोहर रचते रास ।
निभृत निकुञ्जोंमें लीला कर
मधुर बढ़ाते अति उल्लास ॥

उद्धवजी ! आप नहीं जानते (इसीसे हमें समझानेका प्रयास कर रहे हैं) । वे हमारे पवित्रतम प्रियतम हमारे मनको चुरानेवाले श्यामसुन्दर तो सदा-सर्वदा आठों पहर हमारे भीतर-बाहर सब ओर बसे रहते हैं । आप किनकी बात कहते हैं—यह आप जानते हैं—हम अपने प्रियतमके रूप-गुण-वेश-आचरणका किञ्चित् वर्णन सुनाती हैं—(आप अपनेवालेसे मिलाकर देखिये, हमारे वे) श्यामसुन्दर तीन जगहसे बड़ी सुन्दर टेढ़ रखकर खड़े होते हैं, उनका एक-एक अङ्ग सुषमाका सागर है, वे गुणके समुद्र हैं, पवित्र सौन्दर्यके भण्डार हैं, उनमें नित्य नया-नया माधुर्य प्रकट होता है, वे मुरली धारण करते हैं, सिरपर मोरका मुकुट पहने हैं, शोभाकी खान हैं, उनके गलेमें गुंजाकी माल और हाथमें लकुटिया सुशोभित हैं, अधरोंपर सदा मीठी मुसकान छिटकी रहती है । वे वन-वन विचरण करके पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग—जीवमात्रको पवित्र रसका दान करते रहते हैं, वे प्रियतम सदा हमारे घरोंमें आते और चुरा-चुराकर माखन खाते हैं और हम उनकी लीलाएँ देख-देखकर आनन्दमें डूबी रहती हैं । वे यमुना-जीके किनारे नये-नये खेल खेला करते हैं, मधुर-मनोहर रास रचाया करते हैं और निभृत निकुञ्जोंमें मधुर-मधुर लीला करके अत्यन्त उल्लास बढ़ाते रहते हैं ।

नहीं जानतीं हम वे क्या हैं ?
ब्रह्म परात्पर अज अखिलेश ।
हम तो नित्य देखतीं पातीं
उनको निज प्रियतम हृदयेश ॥
श्रीवसुदेव-देवकीके हैं
कौन सुपुत्र तेज-बल-धाम ?
नन्द-यशोदाके लाला हैं
मधुर हमारे तो घनश्याम ! ॥

वे न छोड़ सकते हैं हमको,
हम न छोड़ सकतीं पल एक ।
रहते सदा मिले वे प्रियतम,
भूल सभी कुछ त्याग विवेक ॥
नहीं चाहतीं भोग मोक्ष कुछ,
करतीं नहीं धारणा-ध्यान ।
जब प्रियतमका सङ्ग प्राप्त है
नित्य मधुरतम अव्यवधान ॥

हम नहीं जानती हैं कि वे ब्रह्म,परात्पर अजन्मा या अखिल विश्वपति क्या हैं ? हम तो सदा-सर्वदा अपने परम-प्रियतम हृदयेश्वरको ही देखती हैं और इसी रूपमें उनको प्राप्त करती हैं । श्रीदेवकी-वसुदेवजीके वे तेज-बलके धाम सुपुत्र कौन हैं ? (हमें पता नहीं) हमारे तो मधुर-मधुर घनश्याम श्रीनन्द-यशोदाजीके लाला हैं । न वे हमको छोड़ सकते हैं, न हम उनको एक पलके लिये छोड़ सकती हैं । वे प्रियतम तो सब कुछ भूलकर विवेकका त्याग करके सदा हमसे मिले ही रहते हैं । जब कि हमें अपने प्रियतम श्यामसुन्दरका मधुरतम सङ्ग नित्य निर्बाध रूपसे प्राप्त है, तब हम न तो भोग या मोक्ष कुछ भी चाहती हैं और न हम धारणा या ध्यान ही करती हैं ।

प्रियतम श्याम हमारे वे
कर रहे यहींपर नित्य निवास ।
किनका क्या संदेश सुनें हम,
हों फिर किसके लिये उदास ? ॥
किसका ध्यान करें ? क्यों ? हम
क्यों जानें किसी ब्रह्मका रूप ? ।
मन-छाये—तन-मिले निरन्तर
जब प्राणप्रिय श्याम अनूप ॥

वे हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर नित्य यहींपर निवास कर रहे हैं । फिर हम किसका संदेश सुनें और फिर किसके लिये उदास हों ? हम किसका ध्यान करें ? क्यों ध्यान करें और क्यों हम किसी ब्रह्मका रूप जानें,

जब कि हमारे प्राणप्रिय अनुपम श्यामसुन्दर निरन्तर हमारे मनमें छाये और तनमें मिले रहते हैं ?

सुनकर राधाकी रसवाणी
पाकर पावन प्रेम-समीर ।
ज्ञान-गर्व उड़ गया, हो उठे
उद्धव सहसा प्रेम-अधीर ॥

श्रीराधाजीकी इस रसमयी वाणीको सुनने और प्रेमकी पवित्र करनेवाली वायुका झोंका लगनेसे उद्धवजीका ज्ञान-गर्व उड़ गया और वे सहसा प्रेमके कारण अधीर हो उठे । (वे मन-ही-मन बोले——)

कैसा अनुपम त्याग परम है,
कैसा परम दिव्य अनुराग ।
कैसी प्रिय-उपलब्धि सहज है
नहीं कहीं भी कुछ भी दाग ॥
धन्य धन्य इन गोपीजनको,
सफल इन्हींका जीवन श्रेष्ठ ।
बने प्रेमवश सर्वात्मा
भगवान् स्वयं हैं जिनके प्रेष्ठ ॥
श्रुतियाँ ढूँढ़ रहीं नित जिसको
पातीं नहीं कहीं संधान ।
उस दुर्लभ मुकुन्दपदवीको
पा प्रत्यक्ष भजा अम्लान ॥
दुस्त्यज स्वजन-समूह——आर्यपथ-
का कर त्याग बिना आयास ।
पाया माधवके शुचि हृदय-
भवनमें इसीलिये शुभ वास ॥
मेरे लिये यही सर्वोत्तम
लाभ, यही है परम श्रेय ।
पड़ती रहे चरण-रज मेरे
मस्तकपर इनकी——यह ध्येय ॥
बन जाऊँ मैं वृन्दावनमें
लता-गुल्म-औषधि सामान्य ।
मिलती रहे सतत मुझको
इनकी पदधूलि नित्य सुरमान्य ॥

इन श्रीगोपाङ्गनाओंका कैसा अनुपमेय त्याग है, कैसा इनका परम दिव्य (वासना-लेश-गन्धशून्य) अनुराग है, कैसी सहज प्रियतम श्रीकृष्णकी प्राप्ति है । कहीं भी कुछ भी तनिक-सा भी कोई भी कलङ्क (कामना-वासनाकी कालिमा) नहीं है । इन गोपाङ्गनाओंको धन्य है, धन्य है, इन्हींका जीवन सफल है, श्रेष्ठ है, जिनके प्रेमके वश होकर सर्वात्मा भगवान् स्वयं जिनके प्रेष्ठ——प्रियतम बने हैं । श्रुतियाँ जिसको ढूँढ़ रही हैं, पर कहीं पता नहीं पा रही हैं, उस दुर्लभ मुकुन्दपदवी——भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको इन्होंने प्रत्यक्ष प्राप्त करके सदा निर्दोष रूपसे उसकी सेवा की । भगवान्के लिये बिना ही प्रयासके इन्होंने अपने समस्त स्वजन-समुदायका तथा आर्य-पथका——आर्यकुल-मर्यादाका सहज ही त्याग कर दिया । इसीसे इन्होंने श्रीमाधवके पवित्र भगवत्स्वरूप हृदयमें मङ्गल निवास प्राप्त किया । मेरे लिये बस, यही सर्वोत्तम लाभ है, यही परम श्रेय है कि इनकी चरणरज मेरे मस्तकपर पड़ती रहे——यही एकमात्र ध्येय है । (पर यह देव-मानव आदि शरीरोंमें तो मिलनी कठिन है इसलिये) मैं वृन्दावनमें कोई साधारण-सी बेल, जड़ी-बूटी, ओषधिका छोटा-सा पौधा ही बन जाऊँ, जिससे मुझको सदा-सर्वदा इनकी देवताओंद्वारा भी सम्मान्य चरणधूलि मिलती रहे ।

दिव्य मनोरथ कर यों मनमें
कर राधापदमें प्रणिपात ।
चले नमन कर गोपीजनको
उद्धव हर्षित पुलकित गात ॥

इस प्रकार मनमें दिव्य मनोरथ करके (और मानो सफलताका आशीर्वाद प्राप्त करके उद्धवजीने) राधाजीके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया, फिर गोपाङ्गनाओंको नमन करके हर्षित और रोमाञ्चित-शरीर होकर वहाँसे मथुराको चले गये ।

महर्षि रमणके मित्र शेषाद्रि स्वामी

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

महर्षि रमणका नाम जगद्विख्यात है, परंतु उनके एक संन्यासी मित्रके बारेमें कम लोगोंको मालूम है।

उनका नाम था शेषाद्रि स्वामी। वे अपनेको महर्षि रमणसे अभिन्न मानते थे। एक बार लक्ष्मी अम्माल नामक भक्तिनने शेषाद्रि स्वामीको देखा तो उन्हें प्रणाम करके मन-ही-मन सोचने लगी कि मैंने महर्षि रमणकी इतनी सेवा की; परंतु शेषाद्रि स्वामीकी तनिक सेवा नहीं कर पायी। चित्तवेदी शेषाद्रिने लक्ष्मी अम्मालके मनका भाव समझ लिया। बोले—'चाहे वहाँ सेवा करो या यहाँ सेवा करो; दोनों एक ही बात है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

महर्षि रमणके एक शिष्य थे। उनका नाम था चिदम्बरम् शास्त्री। ध्यानके समय उनका मन भटक जाया करता था। उन्होंने सुना कि गाँजा पीनेसे चित्त एकाग्र हो जाता है। तब वे भी गाँजेका दम मारने लगे। महर्षि रमणने उन्हें गाँजा पीनेसे मना किया, लेकिन उन्होंने अनसुनी कर दी। एक बार वे खराब किस्मका गाँजा पी गये। फल यह हुआ कि शास्त्रीजीका मन भटकने लगा। चित्तमें विभ्रम उत्पन्न हो गया। अब वे क्या करें? महर्षि रमणके पास तो वे जानेके लायक थे नहीं; क्योंकि उन्होंने शास्त्रीजीको गाँजा पीनेसे मना कर दिया था। अब वे महर्षि रमणके पास जायँ तो कैसे जायँ। उन्हें निस्तार कैसे मिलेगा? शास्त्रीजी बड़े बेचैन थे। उन्हें याद आया कि इस समय 'कंबत्तिलैय्यनार मन्दिर'में शेषाद्रिजी आया करते हैं। शास्त्रीजी कंबत्तिलैय्यनार मन्दिरमें पहुँचे तो शेषाद्रिजी वहाँ थे नहीं। शास्त्रीजी वहीं रुक गये और शेषाद्रिजीकी राह देखने लगे। थोड़ी ही देरमें शेषाद्रिजी वहाँ पहुँचे तो वहाँ चिदम्बरम् शास्त्रीको देखकर स्वयं कह उठे—'देखो जी, मैंने तुमसे कितनी बार कहा कि गाँजा मत पीया करो; मगर तुम ऐसे निकले कि बात मानते नहीं और आज भी दम लगाकर आये हो।'

मगर शेषाद्रिजीने चिदम्बरम् शास्त्रीको कभी गाँजा पीनेसे मना नहीं किया था। मना किया था रमण महर्षिने। शेषाद्रि स्वामी अपनेको महर्षि रमणसे कभी भिन्न नहीं मानते थे।

एक बार वेंकटराम ऐय्यर नामक एक महाशय शेषाद्रिजीके दर्शनोंको आये [illegible] हूँ तो चलकर महर्षि रमणके दर्शन भी कर लूँ। तब शेषाद्रिजीने आपही उनसे कहा—'जाइये वेंकटराम ऐय्यरजी, महर्षिजीके दर्शन कर लीजिये। उनके दर्शनसे आपका हृदय पवित्र हो जायगा।'

महर्षि रमणके एक शिष्य सोमसुन्दरम् स्वामीने उनका आश्रम छोड़ दिया और सोचने लगे कि किसकी शरणमें जाऊँ, किसे अपना गुरु बनाऊँ जो अध्यात्म-मार्गपर मेरा पथ-प्रदर्शन कर सके। तब उन्हें शेषाद्रिजी याद आये और उनका चित्त प्रसन्न हो उठा। उन्होंने सोचा कि शेषाद्रिजीकी कृपासे मेरी आत्मा आलोकित हो उठेगी। रातके समय शेषाद्रिजी कंबत्तिलैय्यनार मन्दिरमें जाया करते थे। सोमसुन्दरम् स्वामी उसी मन्दिरमें बैठ गये और शेषाद्रिजीके आनेकी राह देखने लगे। मगर जब शेषाद्रिजी आये तो आते-ही-आते कहा—'यहाँ क्यों आये हो; महर्षि रमणके पास जाओ!'

सोमसुन्दरम् स्वामी हिचकिचाने लगे। कुछ कहना चाहा। मगर शेषाद्रिजीने जोरसे डाँटकर कहा—'तुम्हारी यहाँ कोई जरूरत नहीं। तुम महर्षि रमणके पास चले जाओ!'

शेषाद्रिजी वंदवसि ताल्लुकाके वजूर गाँवके रहनेवाले थे। जातिके ब्राह्मण। पिताका नाम तो मालूम नहीं, माताका नाम था मरकत अम्माल। उनका जन्म सन् १८७० ईस्वीमें हुआ था। परिवार कट्टर सनातनधर्मी था। शेषाद्रिजीके बाल्य-कालमें ही पिताकी मृत्यु हो गयी। भरण-पोषणका कोई सहारा न रहा तो मरकत अम्माल शेषाद्रिजीको लेकर अपने मायकेमें काँची चली गयी। वहाँ उनके भाई थे कामकोटि शास्त्री। पुराण-ग्रन्थोंके धुरन्धर विद्वान्, परम पण्डित और संगीत-शास्त्रके कुशल ज्ञाता। गाने लगते थे तो समाँ बँध जाता था। उन्होंने अपने भानजे शेषाद्रिकी ओर ध्यान दिया। पाया कि शेषाद्रिकी धारणाशक्ति अलौकिक है। जो सिखलाया-समझाया जाता है उसे तुरत समझ लेता है, विशेष प्रयासकी आवश्यकता नहीं पड़ती। तब कामकोटि शास्त्री शेषाद्रिको शिक्षा देने लगे। काव्य सिखलाया, व्याकरण पढ़ाया, अलंकारशास्त्र और ज्योतिषका ज्ञान दिया। कामकोटि शास्त्री [illegible] विषयोंके लिये

शेषाद्रिको अपने सम्बन्धियोंके पास भेजा। मरकत अम्माल भी इस दिशामें उद्यत रहती थीं कि उनका बेटा किसी काम लायक हो सके, अपने जीवनमें कुछ कर सके। शेषाद्रिजी अपने मामासे संगीतकी शिक्षा भी ग्रहण करते थे। उनका गला सुरीला था। वे शीघ्र ही संगीतविद्यामें निष्णात हो गये। शेषाद्रिजीमें एक बात और थी जो दूसरे लड़कोंमें कम देखी जाती है। वे जो कुछ भी एक बार सुन लेते थे वह सदाके लिये उन्हें याद हो जाता था। शेषाद्रि उसी समयसे संस्कृतमें श्लोकोंकी रचना करने लगे थे।

उसी बाल्यकालमें शेषाद्रिको जब कभी अवकाश मिल जाता वे 'मूकपञ्चशती' पढ़ते हुए काँचीपुरकी कामाक्षी देवीके मन्दिरकी परिक्रमा करने लगते। उस समय उन्हें तन-वदनकी भी सुधि नहीं होती। मूकपञ्चशतीका पाठ चल रहा है और मन्दिरकी परिक्रमा हो रही है। कामाक्षी देवी शेषाद्रिकी इष्टदेवी थीं। अन्तःपट खोलो मा, गुरुका दर्शन दिलाओ!

सत्रह वर्षकी उम्रमें शेषाद्रिजीको एक महात्माका दर्शन हुआ। महात्माने उन्हें 'बालामन्त्र' दिया और कहा कि जा बच्चे, श्रद्धा-भक्तिके साथ इस मन्त्रका पाठ करना और चल पड़ी उनकी मन्त्र-साधना। शेषाद्रिजी अपने कुलदेवताके 'पेरियांडवर मन्दिर' के पासवाले मसानमें चले जाते। वहाँ नदी बहती थी। नदी-तीरकी शान्त-एकान्त निस्तब्धतामें वे बालामन्त्रका जप करते। कहते हैं कि उनकी साधनाने बालादेवीको द्रवित कर दिया। शेषाद्रिजीको बालादेवीके दर्शन हुए, उनका अनुग्रह प्राप्त हुआ।

तब उनकी साधना और भी अधिक तीव्र हो उठी। उन्हें जीवनका सत्य प्राप्त हो चुका था। अब उन्हें सांसारिक जीवनसे अरुचि उत्पन्न हो गयी थी। वे रात-रातभर मसानमें पड़े रहते और तरह-तरहके मन्त्रोंको जपकर सिद्ध करते। उधर घरवालोंको उनकी इन बातोंका पतातक नहीं था। जब उनके विवाहकी बात चलने लगी तो उन्हें घरसे और भी अधिक विरक्ति हो गयी और वे इधर-उधर भटकने लगे। घरमें आना-जाना कम कर दिया। घरवालोंको भी उनका यह रंग-ढंग पसंद नहीं आया और घरमें शेषाद्रिजीके साथ रूखा बर्ताव होने लगा।

तब शेषाद्रिजीने भी घर छोड़ दिया और मन्त्रोंका जप करते हुए वे भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे। चारों ओर घूम-घामकर सन् [illegible] पहुँचे और वहीं रह गये। बात उनके सम्बन्धियोंतक पहुँची, तो वे अरुणाचलम् पहुँचे। शेषाद्रिजीको मनाया गया कि 'चलो, फिरसे काँची चलो। जिस प्रकार पहले रहते थे उसी प्रकार रहो। साधना करते हो तो वहीं चलकर करो। तुम्हें कोई विघ्न नहीं, कोई बाधा नहीं, जैसा चाहो वैसा रहो; मगर काँचीमें ही चलकर रहो।' परंतु इस प्रकारका आकर्षण अब उन्हें स्पर्श भी नहीं करता था। वे अरुणाचलम्में जो बने थे सो बने रहे, काँचीपुरम् नहीं गये। हारकर उनके परिवारवालोंको ही लौट जाना पड़ा।

परंतु अरुणाचलम्में भी वे इधर-उधर भटक ही रहे थे। कभी इधर, कभी उधर; कभी यहाँ, कभी वहाँ। मगर ब्राह्मणत्वका अभिमान मिट चुका था। मन निर्लेप हो गया था। अब्राह्मणोंके द्वारपर जाकर भिक्षा माँगते हुए उन्हें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता था। एक बार अरुणाचलम् पहुँचे सो वहींके हो रहे। जप-साधनाने इनके अन्तःकरणका लौह-कपाट खोल दिया। वहाँ दस वर्षोंतक साधनाके द्वारा इन्हें सिद्धि प्राप्त हुई। अब वे दूसरोंके मनकी बात जान लेते थे, दूरपर होनेवाली बातें सुन लेते थे। दृष्टि दिव्य हो गयी थी। जो कहते थे वह हो जाता था। उन्हें वाक्सिद्धि प्राप्त हो गयी थी।

काम-काञ्चनमें आसक्त सांसारिकोंका सहवास उन्हें प्रिय नहीं था। वे साधु-संतोंके पास अपनी मायाको और भी बढ़ानेके लिये पहुँचते हैं। उन्हें अध्यात्म या आत्मज्ञानकी आवश्यकता नहीं। भ्रममें भटकते हुए लोग काम और कञ्चनके लिये संतोंकी सेवा करते हैं। शेषाद्रिजीको इन प्रवृत्तियोंसे चिढ़ होती। अप्रिय व्यक्तियोंको अपने पास आते देखकर शेषाद्रि पत्थर फेंक-फेंककर उन्हें भगा देते। कभी-कभी पागलपनका बहाना करते कि किसी तरह आनेवालेसे पिण्ड छूट जाय।

उन दिनों महर्षि रमण अपनी साधनामें तल्लीन थे। बैठे हैं सो बैठे हैं। चींटियाँ काट रही हैं सो काट रही हैं। सारा शरीर खंखड़ हो गया है। मगर उन्हें किसी बातकी सुध नहीं। वे पाताललिङ्ग नामक गुफामें तपस्या कर रहे थे। चपल लड़के गुफामें ढेला फेंकते। किसी शैतान लड़केने तो उनके शरीरपर पेशाब भी कर दिया था। ऐसे समयमें शेषाद्रिजीने महर्षि रमणको देखा तो उनकी तपस्या देखकर दंग हो गये। उन्होंने समझ लिया कि इनकी तपस्या प्राचीन ऋषियोंके समान है। तब वे लड़कोंके उत्पातसे महर्षि रमणकी रक्षा

करने लगे। परंतु लड़कोंकी दृष्टिमें तो शेषाद्रिजी स्वयं पागल थे। इसलिये बालकोंका उपद्रव घटता नहीं था। लड़के जानते नहीं थे कि वे क्या कर रहे हैं।

एक दिन वेंकटाचल मोदली नामक एक सज्जन उस रास्तेसे चले जा रहे थे। उन्होंने देखा कि कुछ उत्पाती मुसल्मान लड़के पाताललिङ्गकी ओर ताक-ताककर ढेला चला रहे हैं। उन्हें कुतूहल हुआ कि बात क्या है। तब उन्हें याद आया कि उस गर्भ-गृहमें स्वामीजी तपमें लीन हैं। मोदलीजीको क्रोध आ गया और वे एक पेड़की टहनी तोड़कर लड़कोंको मारनेके लिये दौड़े। लड़के शोर मचाते हुए वहाँसे पलायन कर गये।

मोदलीजीने देखा कि शेषाद्रिजी पाताललिङ्गके गर्भ-गृहसे निकलकर बाहर चले आ रहे हैं। वेंकटाचल मोदली घबरा गये। उन्होंने उत्सुक होकर व्यग्रतासे पूछा—'आपको कोई चोट तो नहीं आयी ?'

शेषाद्रिजी बोले—'मुझे तो कोई चोट नहीं आयी; परंतु भीतर छोटे स्वामीजी तपस्या कर रहे हैं। उनकी रक्षाका प्रबन्ध करना उचित है।'

शेषाद्रिजीने कहा और चले गये। उन्होंने समझ लिया था कि अब महर्षि रमणकी रक्षा मेरे वशकी बात नहीं। अब समय आ गया है कि दृढ़तापूर्वक इनकी रक्षा और सेवा-शुश्रूषा करनी होगी। कदाचित् वे यह भी जानते थे कि मोदलीजीके द्वारा सारा प्रबन्ध समुचितरूपसे हो जायगा। जो भी हो, शेषाद्रिजी वहाँसे चले गये और मोदली वहाँसे चलकर पश्चिमके बगीचेमें पहुँचे जहाँ अपने शिष्योंके साथ पलनिस्वामी नामक केरलवासी एक साधु रहता था।

तबसे महर्षि रमणकी सेवाका भार पलनिस्वामीने ले लिया और बड़ी योग्यता तथा श्रद्धाके साथ अपना काम करता रहा। उन्होंने महर्षि रमणकी इतनी सेवा की जो अपने आपमें एक इतिहास बन गया।

लक्ष्मी अम्माल नामक एक दुखियारी महिला महर्षि रमणके सांनिध्यमें रहती थी जिसे एचम्मालके नामसे पुकारा जाता था। वह मंडकोलुत्तूर नामक गाँवकी रहनेवाली थी। तीस वर्षकी उम्रमें ही उसके बेटा, बेटी, पति मर गये थे। कुछ दिनोंके बाद दस सालकी एक बेटी भी मर गयी। उसके शोक-संतप्त हृदयको कोई सहारा नहीं रहा। वह अरुणाचलम् चली आयी और महर्षि रमणके पास विरूपाक्षी गुहामें उनके पास आने-जाने लगी। अपने पिता और भाईसे उसे जो धन मिलता था, उसे महर्षि रमणके पीछे खर्च करती थी। महर्षि उन दिनों मौन रहते थे और किसीको प्रबोध नहीं देते थे। जब उनका मौन टूटा तब भी उन्होंने एचम्मालको किसी प्रकारकी साधनाका मार्ग नहीं बतलाया। एचम्मालका भक्तिभाव शेषाद्रि स्वामीपर भी था और शेषाद्रिजी स्वयं उसके यहाँ आया-जाया भी करते थे। वैसे शेषाद्रिजीकी कृपा पाना बड़ी बात समझी जाती थी; क्योंकि वे किसीको भी अपने पास फटकने नहीं देते थे। अगर कोई उनके पास पहुँचता तो वे ढेला उठाकर मारने दौड़ते थे। मगर वही शेषाद्रिजी थे जो एचम्मालके यहाँ बिना बुलाये पहुँच जाते थे। यह उनकी अहैतुकी कृपा थी या एचम्मालके पुण्योंका प्रताप था, यह कहना कठिन है। वैसे शेषाद्रिजी अध्यात्मके गूढ़ विषयोंपर बातचीत भी नहीं किया करते थे; परंतु एक दिन एचम्मालने पूछा तो वे वेदान्तके तत्त्वार्थपर घंटों प्रवचन करते रहे। उनके पास कोई पोथी भी नहीं थी, मगर वे ग्रन्थोंके उद्धरणपर उद्धरण देते चले गये। उस समय जिस किसीने शेषाद्रिका प्रवचन सुना, उनका प्रबल पाण्डित्य देखकर दंग हो गया।

शेषाद्रिजीको मालूम था कि महर्षि रमण साधनाकी पद्धति किसीको नहीं बतलाते। इसीलिये जब एचम्माल साधनाके स्तरपर आ गयी तो एक दिन शेषाद्रिजी उसी समय पहुँचे जिस समय एचम्माल पूजा कर रही थी।

'क्या कर रही हो एचम्माल ?'

'मैं आपकी और महर्षि रमणजीकी तस्वीरोंकी पूजा रोज करती हूँ। अभी भी वही हो रहा है।'

समय आ गया था। अब एचम्मालको और भी ऊपर उठनेकी आवश्यकता थी। शेषाद्रिजीने पूछा—'एचम्माल! तुम ध्यान और अभ्यास क्यों नहीं करती ?'

एचम्मालने पूछा—'वह कैसे किया जाता है ?'

और बस, शेषाद्रिजी तुरंत आसन लगाकर बैठ गये। नासिकाग्रपर दृष्टि रखकर ध्यान करते हुए समाधिमें लीन हो गये। चार-पाँच घंटे गुजरे तब उनकी समाधि टूटी। शेषाद्रि स्वामी बोले—'देखा एचम्माल !

हाँ, एचम्मालने देखा और समझा। एचम्मालके अन्तरका एक दूसरा द्वार खुल गया। एचम्मालको शेषाद्रि-जीने एक दूसरे ही आनन्दमय लोकमें पहुँचा दिया, जहाँ अनहदका नाद गूँजता है, अमृत और आनन्दकी वर्षा होती है और अपने भीतर ही परमात्म-ज्योतिके दर्शन होते हैं।

एक थे श्रीनटेश मुदलियारजी। वे किसी एलिमेण्ट्री स्कूलमें अध्यापक थे। उनके मनमें वैराग्य जागा तो वे ज्ञानी और सिद्ध महात्माओंकी जिज्ञासा करने लगे। मालूम हुआ कि अरुणाचलम्‌में महर्षि रमण सिद्ध तपस्वी हैं, परंतु किसीको उपदेश नहीं देते। उन्हें गुरु बना पाना तो प्रायः असम्भव ही है। मुदलियारजी, जिन्हें संक्षेपमें मोदलीजी कहा जाता था, सोचने लगे कि एक बार चलकर चेष्टा तो करनी ही चाहिये। १९१८ में स्कन्दाश्रममें जाकर घंटों महर्षि रमणके निकट बैठे रहे, मगर कोई असर नहीं। तरह-तरहके प्रयत्न किये, पत्र लिखा, रजिस्ट्री भेजी; लेकिन कोई उत्तर नहीं। हारकर वे फिर अरुणाचलम् आये। कदाचित् यह १९ २०–२१की बात है। अरुणाचलम्‌में मोदलीजीको एक ब्राह्मण मिले। उनसे मोदलीजीने अपनी समस्या बतलायी। बोले कि गार्हस्थ्य जीवनसे मुझे विराग हो गया है। मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। इसके लिये मैं बार-बार महर्षि रमणके पास जाता हूँ, मगर वे कुछ कहते नहीं। पत्र लिखता हूँ, रजिस्ट्री भेजता हूँ, तो उसका भी कोई उत्तर नहीं मिलता। मैं इसी चक्करमें हूँ कि मैं क्या करूँ।

मोदलीजीकी बात सुनकर ब्राह्मण मुस्कुराये, बोले—'आप तो थोड़े ही वर्षोंसे यहाँ आते-जाते हैं। मुझे तो यहाँ आये सोलह साल हो गये, फिर भी उनका अनुग्रह नहीं हुआ। मैं नहीं समझता कि आपके ऊपर महर्षि रमणकी कृपा हो जायगी।'

मोदलीजी बोले—'फिर भी चेष्टा करूँगा। देखूँगा।'

ब्राह्मणने कहा—'वे बिल्कुल उदासीन हैं। उनके सामने सिर पटककर अपना माथा फोड़ लो तब भी उन्हें कोई असर नहीं होगा। नितान्त निर्मम हैं वे। उनकी कृपा असम्भव है।'

'तब ?'

ब्राह्मणने कहा—'यहाँ शेषाद्रि स्वामी बहुत ही बड़े महात्मा हैं। कौन बड़ा है और कौन छोटा है, इस प्रपञ्चमें मैं नहीं पड़ता। मगर यह जान लो कि शेषाद्रि स्वामी बड़े पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष हैं। आप उनके पास जाइये। अगर आपको उनका थोड़ा भी अनुग्रह मिल गया तो आपका जीवन धन्य हो जायगा।'

मोदलीजी प्रसन्न हो गये। बोले—'मैं उनके पास जरूर जाऊँगा।'

'मगर सँभलकर जाइयेगा!' ब्राह्मणने बतलाया। 'वे किसीको अपने पास फटकने नहीं देते। ढेले मार-मारकर भगा देते हैं।'

'तब ?' मोदलीजीने पूछा। 'उनके पास कैसे जाना होगा ? कब उनके पास जाऊँ ?'

ब्राह्मणने कहा—'आप सबेरेके पहर उनसे मिलिये।'

मोदलीजीने स्वीकार कर लिया। उनके मनमें एक नयी आशाका संचार हुआ।

दूसरे दिन प्रातःकालसे ही मोदलीजी शेषाद्रि स्वामीकी खोजमें लगे। उनके साथ उनके एक साथी भी थे सुब्रह्मण्य ऐय्यरजी। दोनों शेषाद्रिजीको खोज रहे थे और शेषाद्रिजीका कहीं पता नहीं था। उनके रहने-बैठनेका कोई स्थान तो था नहीं। जहाँ जी चाहा शेषाद्रिजी रम रहे। दोपहर हो गयी और इन लोगोंको शेषाद्रिजी नहीं मिले। धूपके मारे मोदलीजीको चलना कठिन हो गया। तब मोदलीजीको एक छायादार चबूतरेपर बिठाकर सुब्रह्मण्य ऐय्यरजी अकेले ही शेषाद्रिजीको खोजने लगे। आखिर बड़ी परीशानीके बाद शेषाद्रिजी मिले। सुब्रह्मण्य ऐय्यर-जीने उन्हें कह-सुनकर साथ लिया और मोदलीजीके पास पहुँचे। पास पहुँचना था कि शेषाद्रिजीने मोदलीजीसे पूछा—'कहो भाई, मुझे क्या दे रहे हो ?'

मोदलीजीके पास कुछ था नहीं। पके हुए कटहलके थोड़े-से कोए थे। मोदलीजीने वे कोए शेषाद्रिजीको दे दिये।

शेषाद्रिजीने कोए खाये। उसके बाद चुपचाप बाजारकी ओर चल निकले। ये दोनों व्यक्ति पीछे-पीछे। शेषाद्रिजी जिधर जा रहे हैं उधर ही ये लोग भी जा रहे हैं।

सहसा शेषाद्रि स्वामी पीछेकी ओर घूम गये। बोले—'मेरे लिये आम खरीद दोगे ?'

'जरूर!'

और शेषाद्रिजीके लिये आम खरीद दिये गये। मोदलीजीके उत्साहकी कोई सीमा नहीं थी। शेषाद्रिजी स्वयं उन्हें अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे थे।

शेषाद्रिजीने आम लिया। थोड़ा खाया, बाकी लोगोंके बीच बाँट दिया। आम पानेवालोंने आम पाया और चलते रहे।

शेषाद्रिजीने कहा—'मुझे पानी चाहिये।'

सुब्रह्मण्य ऐय्यर तुरंत पानी लाने दौड़े।

अब अकेले बच रहे केवल मोदलीजी।

एकान्त पाकर शेषाद्रिजीने मोदलीजीसे कहा—'अरे भाई! तुम तो बेकार अपने जीको दुखी करते हो। ज्ञान-ज्ञान कहते हो, मगर जिसे ज्ञान कहते हो वह ज्ञान क्या है? नाशवान् असद्वस्तुओंका मनसे निराकरण करनेपर भी जिसका निराकरण नहीं हो सकता, वही ज्ञान है, वही ईश्वर है, वही सब कुछ है। वह एक ही 'वस्तु' है। ज्ञानकी खोजमें जंगलों, पहाड़ों और गुफाओंमें जाना व्यर्थ है। तुम घबराओ नहीं। जिसके पास जाना चाहते हो, निर्भीक-निर्द्वन्द्व होकर चले जाओ।'

इतना कहकर शेषाद्रिजी चल खड़े हुए कि इसी समय सुब्रह्मण्य ऐय्यर पानी लेकर पहुँच गये।

तबतक मोदलीजीकी शङ्काएँ छिन्न-भिन्न हो गयी थीं।

यही मोदलीजी थे जो आगे चलकर स्वामी नटनानन्दके नामसे विख्यात हुए। महर्षि रमणपर इनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं—रमणस्तोत्र-मञ्जरी, रमणस्तोत्र-षोडशी, रमणनान् मणिमाले, रमणशतक, रमणअन्तादि। उनकी 'उपदेशमञ्जरी' नामक पुस्तक बड़ी प्रसिद्ध है।

कभी-कभी शेषाद्रिजी अपना महत्त्व भी खोलते थे। एक बार टी० बी० सुब्रह्मण्य ऐय्यरजी अरुणाचलम्‌में पहुँचे। शेषाद्रिजीने उनसे पूछा—'क्या आपको मालूम है कि यहाँ तीन लिङ्ग हैं?'

ऐय्यरजीने कहा—'मुझे तो एक ही लिङ्गके बारेमें मालूम है। अरुणाचल ज्योतिलिङ्ग है। बस, मैं इतना ही जानता हूँ।'

शेषाद्रिजी बोले—'अजी नहीं, आप तीनोंको जानते हैं।'

ऐय्यरजीने कहा—'मुझे मालूम नहीं। बाकी लिङ्ग कौन-कौन-से हैं?'

शेषाद्रिजी मुस्कुराये—'आप जानते हैं, सोचकर देखिये।'

'सच कहता हूँ, मुझे मालूम नहीं।'

शेषाद्रिजीने कहा—'दूसरे लिङ्गका नाम है महर्षि रमण।'

'और तीसरा लिङ्ग?'

'वह भी आपको मालूम है।'

'विश्वास कीजिये, मुझे नहीं मालूम।'

'तीसरे लिङ्गको शेषाद्रि कहते हैं।'

ऐय्यरजीने पूछा—'आप?'

'तुम तो जानते ही हो।'

ऐय्यरजीने कहा—'जी नहीं, मुझे मालूम नहीं।'

शेषाद्रि स्वामी दृढ़तापूर्वक बोले—'हाँ, मैं ही हूँ; मैं।'

केवल शेषाद्रिजी ही महर्षि रमणका समर्थन नहीं करते थे, बल्कि महर्षि रमणजी शेषाद्रिजीका पूर्ण समर्थन किया करते थे। सन् १९०८ या ९ में तिरुवालूरके सुब्रह्मण्य मोदलीने महर्षि रमणके आश्रमका खर्च उठाना शुरू किया था। आश्रमके खाद्यपदार्थ सुब्रह्मण्यजी ही भेजा करते थे। वे आश्रममें बने रहते। अतिथियोंके आदर-सत्कारमें अपना समय लगाते। मगर सांसारिक चिन्ता उन्हें घेरे रहती थी। धनवान् थे, परंतु और भी अधिक धन चाहते थे। जमीन-जायदाद थी, मगर और भी जमीन-जायदाद चाहते थे। लाभके लोभमें मुकदमेबाजीके पंजेमें पड़ जाते थे। सुब्रह्मण्य-जीके साथ यही चक्कर था जो चल रहा था। वे महर्षि रमणके भक्त थे और शेषाद्रिजीके प्रति भी उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी।

सन् १९१० में एक दिन शेषाद्रिजी आम्रगुफामें गये हुए थे। वहाँ देखा कि सुब्रह्मण्यजी सेवा-सत्कारमें लगे हुए हैं। उन्हें देखकर शेषाद्रिजीने अपने फक्कड़-अलमस्त ढंगसे कहा—'अरे भाई सुब्रह्मण्यजी! मेरे इस छोटे भाई [महर्षि रमण] को दस हजार मासिक मिलता है, मुझे एक हजार मासिक उपलब्ध होता है। तुम्हें भी चाहिये कि कमसे कम एक सौ मासिक कमा लिया करो।'

सुब्रह्मण्यजी समझ गये कि शेषाद्रिजी क्या कह रहे हैं। बोले—'मुझे कमाने-धमानेकी फुरसत कहाँ। मुकदमेबाजी और चिन्तामें गलेतक डूबा हुआ हूँ।'

[illegible] [illegible] उन्हें फिर समझाया—'भाई!

आत्मविद्या कठिन नहीं। आत्मा तो सदा तुम्हारे साथ है। केवल इसे जान लेना है।'

इधर सुब्रह्मण्यजी थे, जिनका अपना ढंग था, अपने ढंगकी समस्या थी। वे न इन बातोंकी ओर ध्यान दे सकते थे और न मान सकते थे।

आखिर शेषाद्रिजी झल्लाकर बोले—'तब तुम अपने-को बचाओ, तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप घेर रहा है।'

सुब्रह्मण्यजीने यह सुना तो उनके होश उड़ गये। भयके मारे बुरी हालत हो गयी। शंकित हृदय लेकर महर्षि रमणके पास पहुँचे और सारा हाल कह सुनाया।

महर्षि रमण बोले—'शेषाद्रिजी ठीक ही तो कहते हैं। अपनी आत्मा ही तो ब्रह्म है। अपनी आत्मारूपी ब्रह्मको नहीं पहचान रहे हो तो तुम्हारे द्वारा ब्रह्महत्या (आत्महत्या) हो रही है।'

शेषाद्रिजी एक स्थानपर जमकर नहीं टिकते थे। यहाँ-तक कि भिक्षा लेनेके बारेमें भी उनका नियम नहीं था। कभी-कभी महर्षि रमणके आश्रममें आकर शिष्योंकी पंक्तिमें बैठ जाते और भोजन पा लेते। खाते समय शेषाद्रि-जीसे अनाजके कण इधर-उधर बिखर जाते। अगर कोई शिष्य टोकता तो तत्काल सावधान होकर जवाब देते—'हाँ-हाँ, ठीक कहते हो। देखो, एक कण भी नीचे नहीं गिर रहा है।'

सन् १९१४ में वे आप ही एक दिन विरूपाक्षि-गुफामें चले आये और महर्षि रमणके साथ रहने लगे। एक महीने तक दोनों संतोंका साथ रहा। फिर एक दिन महर्षि रमणके एक शिष्य स्कन्दस्वामीने कह दिया—'शेषाद्रिजी जूठन गिरा देते हैं। अबसे उन्हें नहीं खिलाऊँगा।'

बस, बात लग गयी। शेषाद्रिजी वहाँसे चल दिये और फिर भोजनके लिये महर्षि रमणके आश्रममें नहीं गये।

कभी-कभी तो वे विचित्र व्यवहार किया करते थे।

शेषाद्रिजी एक दिन खड़े हैं और तन्मय होकर भैंस देख रहे हैं।

नारायणस्वामी ऐय्यरने कुतूहलसे पूछा—'कहिये स्वामी-जी! क्या देख रहे हैं?'

शेषाद्रिजी बोले—'इसे देख रहा हूँ।'

'भैंस देख रहे हैं?'

शेषाद्रिजीने पूछा—'अच्छा, बतलाओ तो सही कि वह क्या चीज है?'

'स्वामीजी, वह भैंस है।'

शेषाद्रिजी प्रसन्न होकर बोले—'अजी वाह, क्या यही भैंस है? भैंस रे भैंस! बोलो, यह ब्रह्म है।'

सुना है कि ब्रह्मज्ञानीको सर्वत्र ब्रह्म भासता है। शेषाद्रि-जीको भी ऐसा ही दीखता होगा। ब्राह्मी स्थिति!

लोगोंको उत्कण्ठा होती थी कि जब शेषाद्रिजी और महर्षि रमण मिलते हैं तो दोनोंमें क्या और किस प्रकारकी बातें होती हैं। एक बार शेषाद्रिजी महर्षि रमणके पास आम्रगुफामें पहुँचे तो दोनोंकी बातचीत सुननेके लिये महर्षिजीके कई शिष्य आ जुटे। शेषाद्रिजीने भाँप लिया कि बात क्या है। वे बड़ी देरतक महर्षि रमणकी ओर टकटकी लगाकर देखते रहे। फिर महर्षि रमणकी ओर इंगित करके बोले—'पता नहीं ये क्या सोच रहे हैं।'

महर्षि रमण चुप रहे।

शेषाद्रिजी बोले—'भगवान् अरुणाचलम्की पूजा करें तो वे ही मुक्तिदान देंगे।'

महर्षि रमणने पूछा—'पूजा करनेवाला कौन है और पूजा किसकी होती है?'

शेषाद्रिजी ठठाकर हँस पड़े—'वही तो ठीक-ठीक समझ-में नहीं आता।'

तब महर्षि रमण एक घंटेतक अद्वैतकी अनुभूति बतलाते रहे। शेषाद्रिजीने ध्यानपूर्वक सब-कुछ सुना, फिर बोले—'आप क्या कहते हैं, कुछ समझमें नहीं आया। अपने लिये तो मैं पूजा करनेवाला हूँ; मगर आपकी बात मेरे लिये अन्धेरी है।'

और शेषाद्रिजी पंद्रह बार गिरि-शिखरका साष्टांग दण्डवत् करके पहाड़से उतरे और चले गये।

सन् १९२९की चौदहवीं जनवरीको शेषाद्रिस्वामीने देहत्याग किया। उनकी समाधि रमणाश्रमके निकट चंगम रोडपर स्थापित है।

शेषाद्रिजीकी मृत्युके एक वर्ष बाद महर्षि रमणने एक सपना देखा था। देखा कि शेषाद्रिजी दाढ़ी बनवा रहे हैं।

महर्षिजीने पीछेसे जाकर उनकी पीठ ठोंकी और बोले—'ओहो !'

शेषाद्रिजीने पीछे पलटकर महर्षि रमणको देखा और चट उठकर गलेसे लगा लिया। दोनों बड़ी देरतक गाढ़ालिंगनकी अवस्थामें ही रह गये।

इस स्वप्नका अर्थ कौन समझ सकेगा ?

आढ़त

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर साहित्यकार)

(१)

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

गो-ब्राह्मण एवं जगत्का हित करनेवाले गोविन्द श्रीकृष्णके अनन्यभक्त नन्दजीके यहाँ आढ़तका धंधा होता था—सस्ती दर, सचाई, ईमानदारी और पाई-पाईके सही-सच्चे हिसाबके साथ। वे बड़े दयालु, दानी और सबके सुख-दुःखमें सम्मिलित होनेवाले लोकप्रिय मानव थे। अपने पूर्वजोंके द्वारा निर्मित श्रीद्वारकाधीशके मन्दिर, गोशाला, धर्मशाला एवं सदावर्तका सारा व्यय अपनी न्यायकी कमाईसे देकर उनकी व्यवस्था सुचारुरूपसे निरन्तर चलानेमें बड़ा सुख मानते थे। भगवान्के प्रत्येक विधानपर दृढ़ विश्वास था उनका। प्रतिवर्ष आषाढ़ी पूर्णिमाको भगवान्के मन्दिरमें अन्न-परीक्षा होती। सभी प्रकारके अन्नादिको एक-एक तोला तौलकर खादीके कोरे वस्त्रमें बाँध, मिट्टीके नये घड़ेमें रख, शयन-आरतीके पश्चात् रात्रिको उसे भगवान्के श्रीचरणकमलोंमें रख दिया जाता। दूसरे दिन प्रातःकाल उसी अन्नादिको दुबारा उसी तोले-काँटेसे तौलनेपर, भगवान्की अपार लीलासे, वह पहले तौलकी अपेक्षा कोई कम होता, कोई अधिक। कमी-बेशी जुआरके दानोंसे देखी जाती। उसीके अनुसार उस वर्षकी फसल उपजनेका अनुमान लगाकर कई व्यापारी अपना धंधा करते-कराते और उन्हें लाभ होता। नन्दजी भी इसपर पूरा-पूरा भरोसा रखकर धंधा करते और सचमुच ही उनके घरमें खूब धनागम होता था।

एक दिन नन्दजी मन्दिरके पास सरोवरके तटपर बैठे-बैठे ॐका जल्दी-जल्दी जप कर रहे थे। एक 'जपात् सिद्धिः' के [illegible] साधक वहाँ आकर बोले—'नन्दजी ! पीतलके भगोनेको टंकार देनेसे उसमेंसे ध्वनि निकलकर बहुत देरतक गूँजती रहती है। अन्तमें बहुत धीमी होते-होते शनैः-शनैः शान्त हो जाती है। इसी प्रकार ॐका जप ऐसी ही ध्वनिके साथ करो।' नन्दजीने कृतज्ञ होकर साधकके पाँवोंमें अपना मस्तक नवा दिया।

नन्दजीका भवन मानो एक गोशाला था। बछड़े इधर-उधर फुदकते रहते थे। अधिकांश नागरिक पञ्चगव्य लेनेके निमित्त पहलेसे ही अपने खाली बर्तन उनके यहाँ रख जाते थे। सर्वरोगहारी गोमूत्रकी सभीको, विशेष रूपसे वैद्योंको अधिक माँग रहती थी। वे जानते हैं 'कि कठिनाईसे भस्म होनेवाले पारदको भी गोमूत्र भस्म बना देता है।'* नन्दजीका परिवारवालोंको आदेश था कि किसीका कोई भी पात्र खाली न जाने पावे।

(२)

नन्दजीका ईमानदार परिश्रमी स्वामिभक्त कोषाध्यक्ष प्रदीप एक बार रोशनके ५००) रुपयेकी गड्डी तिजोरीमें रखना भूल गया और वह ऐसी गायब हुई कि बहुत खोजनेपर भी नहीं मिली। प्रदीपको तो अपनी ईमानदारी, सचाई कायम रखने और बदनामीके भयसे इतना शोक हुआ कि एक बार तो वह आत्महत्या करनेपर उतारू हो गया। उसके घरमें पूर्ति करने जितना धन भी नहीं था। एक दिन एकान्तका सुयोग देख लज्जित होते हुए बड़े ही उदास मनसे प्रदीपने नन्दजीके पाँवोंको अश्रुजलसे भिगोते हुए सारा वृत्तान्त उनके सामने प्रकट कर दिया। बोला—'मैं यह जानकर किसीको अपनी लेखनी-बही भी नहीं देता था कि 'लेखनी, पुस्तक, शय्या किसीको

* गोमूत्रद्रोणपुष्पाभ्यां पाकाद्वा कान्तभाजने।
(रसरत्नसमुच्चय १३। ११०४)

देनेपर वापस नहीं आती। यदि भगवान् इन्हें वापस लावें तो ये बिगड़ी हुई आती हैं।'[1] और संध्याको घर जाते समय दीप-प्रकाशसे तिजोरीके चारों ओर देखता कि कहीं कोई रुपया-पैसा बाहर तो नहीं रह गया है। परंतु प्रारब्ध बिगड़ी होते ही मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। सूर्य कमलोंको पोसता है, पर वही जलके न रहनेपर उन्हें जला डालता है।'[2] इसी प्रकार भगवान् मुझपर न जाने क्यों कुपित हो गये। आप जानते हैं, मैं निर्धन हूँ। अतः मेरे वेतनमेंसे थोड़े-थोड़े रुपये काटकर पाँच सौकी पूर्ति करते रहें। मुझे नौकरीसे अलग न करें'—यही आपसे विनीत प्रार्थना है।'

निःस्पृही नन्दजी तो सदा यही चाहते थे कि—'नहीं चाहना है विभो! वित्तकी। हमें चाहिये चेतना चित्तकी॥' —(गुप्तजी) अतः उनके सरल हृदयमें इस अर्थहानिका तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ। वे विश्वासपात्र पुराने रोकड़िया प्रदीपकी सचाईपर पूरा विश्वास करते हुए मृदु वाणीसे बोले—'श्रीभगवान् तो सर्वहितकारी हैं। हमारी अज्ञानता है, जो हमारी भूलका दोष हम उन्हें देते हैं। आप चिन्तासे दुखी न हों। इन रुपयोंको बट्टाखाते नाम माँडकर जमाखर्च बराबर कर दें और अपना काम नियमितरूपसे सदैव करते रहें।'

उस समय प्रदीपकी दृष्टिमें नन्दजी महामानव दिखायी दे रहे थे। उसने सोचा—'कमलदण्डकी नली जन्मसे ही कमलके साथ रहती है, तो भी कमल उस नलीकी ओर मुख न रख विमुख ही रहता है। इसी प्रकार गुणवानोंकी ओर लक्ष्मीवानोंकी रीति विमुख ही होती है[3]। परंतु नन्दजी इसके विपरीत साबित हो रहे हैं।'

---

१. लेखन, पोथी, सार, पर घर गई न बावड़े।
जो लावै करतार, बिगड़ी आवे 'नाथिया'॥
(राजस्थान-मारवाड़में प्रचलित 'नाथियाके' सोरठे)

२. पलटत ही प्रारब्धके, सुखद दुखद है जात।
रवि पोषत शोषत वही, जलजातहि जल जात॥

३. आजन्मानुगतेऽप्यस्मिन्नाले विमुखमम्बुजम्।
प्रायेण गुणपूर्णेषु रीतिर्लक्ष्मीवतामियम्॥
[illegible]

(३)

वह बैलोंको डंडा मारता-पीटता गाड़ीको ऊबड़-खाबड़ मार्गपर दौड़ाता हुआ पीछेकी ओर भयभीत हो देखता जाता था कि कहीं कोई पकड़नेवाला तो नहीं आ रहा है अथवा गाड़ीमेंसे कोई प्रिय वस्तु तो नीचे नहीं गिर गयी है। इस तरह घबराता-हाँफता वह नगरमें आ पहुँचा अपने घर। यहाँ सबके आग्रह करनेपर भी भोजन न कर एकान्त कमरेमें बैठ गया। मारसे बेचारे बैलोंके शरीरपर चोटें ज्यों-की-त्यों उभर आयी थीं। मार्गमें झरनेपर उन अनबोले निर्दोष पशुओंको जल भी नहीं पीने दिया था। अब उन्हें देख-देखकर भारी दुःख हो रहा था उसे। आगे उसका चिन्तन चला—'अब कभी ऐसा अत्याचार नहीं करूँगा। हाँ, माँ मुझे कितना प्यार करते हुए सदाचारकी शिक्षा यों दिया करती है—'पनिहारिनको सामने आती देख (जब कि उसकी बिहारीके ६०८ वें दोहे-जैसी मुद्रा बन जाती है) तेरे पिताजी नीची दृष्टि कर लिया करते थे। महात्मा गाँधीने सच कहा है—'स्त्री ही बालकका चरित्र-गठन करती है। अतः वह राष्ट्रकी माता है।' बहन गाया करती है—'भैया मोरे राखीके बन्धन निबाहना तो' भ्राताके विषयमें तुलसीदासजीने कहा है—'मिलै न जगत सहोदर भ्राता' और पूज्य पिताजी तो सर्वथा वन्दनीय हैं। पत्नीको विवाहके समय घरकी 'सम्राज्ञी भव' कहकर लाया जाता है। हाय, हाय! इन सबका प्रेमपूर्ण आग्रह न मानकर मैंने भोजन नहीं किया। भला चोरको शान्ति कहाँ?' इस सोच-विचारके बाद जब भूखने अधिक सताया तब उसने सबको जगाकर उनसे क्षमा-याचना की और सबके साथ भोजन किया। फिर भी उनको भेद इस संदेहके कारण नहीं बताया कि कहीं बात खुल जाय, प्रदीप झूठी गवाही दिलवाकर मुझपर दावा कर दे, घरकी तलाशीमें नोट प्राप्त हो जायँ, तो मुझे कारावासकी हवा खानी पड़े। वर्षोंकी जमी प्रतिष्ठा तो बिगड़ ही जाय।

बचनेका उपाय सोचते-सोचते उसे एक दिन ध्यान आया कि मेरे अभिन्न मित्र बंसीधरके पास चलूँ, जो सत्यासत्य मामलोंकी जीत करवानेमें बड़ा प्रसिद्ध है। मैंने देखा है कि बंसीधर रातमें जगकर बहुमूल्य पुस्तकोंसे खूब अध्ययन किया करता था। आधी निधि उसको दे [illegible]

'सब धन जातो जानिये, तो आधो दीजै बाँट ।'
और दोनोंमें बात पक्की हो गयी ।

(४)

'पापका फल हो नरकोंका भोग'—एक दिन प्रातःकाल ही उसने पड़ोसमें एक याचकको यह गाना गाते हुए सुना । सुनते ही सुकर्म-दुष्कर्मका फलाफल बतानेवाला उसका विवेक जाग उठा । सोचा—'यह चोरीका पर-धन पचा लेना मेरे लिये कठिन है । तब क्या करूँ, यत्नसे लायी हुई इस निधिका ? वापस लौटाना होगा ।'

× × ×

पौ फट रही थी । पक्षी चहचहा उठे थे । गोधन वनमें जानेको घरोंसे निकल पड़ा था । ऐसे सुहावने समय मोहन बगलमें कुछ दबाये चुपचाप भवनसे निकलकर प्रदीपके घर जा पहुँचा । उसे देखते ही प्रदीप आश्चर्य किंतु शिष्टाचारपूर्वक बोला—'आइये मोहनलालजी साहब, आज कैसे कष्ट उठाया । मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहिये ।' मोहनने कोई उत्तर न देते हुए दीनतासे प्रदीपके पैर पकड़ लिये और ७००) रुपयेके नोट उसके हाथोंमें दे, सिसकियाँ भरते हुए कहने लगा—'मैं चोर हूँ आपका ।' प्रदीप—'यह क्या कह रहे हैं आप ? आप तो दीपनगरके माने-सन्माने धनवान् जागीरदार हैं । मैं तो एक तुच्छ व्यक्ति हूँ ।' मोहन बीचहीमें बोल उठा—'नहीं-नहीं, पाँचकी जगह पाँच अरब भी होते, तो भी राँका-बाँकाकी भाँति मुझे उनपर धूल ही डालनी चाहिये थी । मैंने आढ़त लेनेमें भी किसानोंके साथ बेईमानी की है । घरमें श्रीभगवान्का दिया हुआ धन, जन, मान-सम्मान सभी है । पूर्वजोंके समयसे हमारे भवनमें धर्मानुरागकी गङ्गा बहती आयी हैं । फिर मेरी मति न जाने क्यों भ्रष्ट हो गयी ! आपको भी संकटमें डालकर मैंने भारी अपराध किया । सच है—'जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन्न ।' मैंने उस दिन होटलमें आमिष भोजन किया था । अब आपसे क्षमा चाहता हुआ शरणागत-प्रतिपालक श्रीकृष्ण भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि 'अब मेरी मति कभी भी भ्रष्ट न हो । लोभ, मोह, चोरी, धोखा आदि दुर्गुण स्वप्नमें भी मेरे पास न आयें ।' अत्यन्त दीन भावसे यह प्रार्थना करते-करते मोहनको ध्यानावस्थाने आ घेरा । प्रदीपने उठाकर प्रेमपूर्वक उसे हृदयसे लगाया, मानो वर्षोंसे बिछुड़े हुए मित्र मिल रहे हों ।

प्रदीपने ७००) के नोट जब नन्दजीको दिये, तो उन्होंने एकान्तमें मोहनको बुलाकर कहा—'प्रिय मोहनजी ! भूल बड़ों-बड़ोंसे होती है । आप जरा-सा भी दुःख न मानते हुए इन नोटोंको ले जाकर दीनजनोंकी सेवामें व्यय कर दें ।' उदार धर्ममूर्ति नन्दजीके मुखसे यह सुनते ही मोहन अविरल अश्रुधारा बहाते हुए कहने लगा, धन्य हैं आप । किंतु मुझे इतना दुःख हो रहा है कि धरती फट जाय तो उसमें समा जाऊँ । बारंबार प्रभुसे विनती है—

करुना निधान भगवान करी क्यों देरी ।
दुख हरो द्वारकानाथ सरन मैं तेरी ॥

× × × ×

प्रेमी नन्दजीने सस्नेह मोहनके मस्तकपर हाथ रख उसे हृदयसे लगाते हुए सान्त्वना दी और उसके बहुत आग्रह करनेपर सात सौ लेकर धार्मिक कार्योंमें व्यय करवा दिये—

मोहनका हृदय भगवत्कृपासे निर्मल, पापरहित, विकार-शून्य और लोभ-लालच-विहीन बन चुका था । घर आकर उसने भगवान्का भजन करना आरम्भ कर दिया । विश्वास, दृढ़ता और प्रेमपूर्वक निस्स्वार्थ भावसे निरन्तर भजन करते रहनेके प्रभावसे उसके सभी कल्मष धुल गये और मुखमण्डल एक अपूर्व तेजसे चमक उठा, जिसके आकर्षणमें आकर अनेक मनुष्य भगवत्परायण होकर भगवद्भजन करनेमें तल्लीन रहने लगे ।

बंसीधरने आढ़त-दलालीपर कई व्यक्तियोंको नियत कर रक्खा था कि झूठे-सच्चे-मामलोंमें फँसाकर आसामियोंको उसके पास लाते थे । पर अब मोहनका उदाहरण देखकर उसे भी इस प्रकारकी पापकी कमाईसे घृणा हो गयी । अतः उसने वकालतका पेशा छोड़ अध्यापनकार्यद्वारा अर्थोपार्जन करते हुए मोहनके साथ, नन्दजीका आदर्श एवं भक्तिका प्रकाश सामने रखकर सप्रेम ईश्वर-भजन करना प्रारम्भ कर दिया । दोनों मित्रोंने 'सब तज हरि भज' के सिद्धान्तानुसार निशिदिन भगवत्स्मरण करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत किया ।

कामके पत्र

(१)

भूखसे दर्दनाक मृत्यु और हमारा कर्तव्य

'किसरौलमें अत्यन्त कुलीन-परिवारके एक व्यक्तिकी १४ दिनतक भूखसे तड़पनेके बाद दर्दनाक मृत्यु हो गयी !

एक प्रत्यक्षदर्शीके अनुसार मृतकके घर उसकी मृत्युके समय चार छोटे-छोटे पुत्रों, एक युवा कन्या तथा पत्नीको लगभग एक सप्ताहसे अन्नके दर्शन नहीं हुए थे।

मृतकके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उसने लगभग २५ वर्षतक स्थानीय कलक्टरी-कचहरीमें लिपिक श्रेणीके विभिन्न पदोंपर कार्य किया। इस व्यक्तिने अपने जीवनमें कभी किसी प्रकारकी कोई अवैध आय नहीं की तथा किसीसे रिश्वत नहीं ली। अतः उसने स्वयं भी अपने किसी कार्यके लिये किसीको रिश्वत नहीं दी।

बताया जाता है कि अबसे लगभग एक वर्ष पूर्व सम्बन्धित अधिकारीको सौ रुपये रिश्वत न दे सकनेके कारण उसे जबर्दस्ती समयसे पूर्व ही अवकाश प्राप्त कराया गया था।

पता चला है कि मृतककी पत्नी गत नौ माहसे दाईके कार्यका प्रशिक्षण प्राप्त कर रही है और उसे इसी प्रशिक्षणके लिये सरकारकी ओरसे बीस रुपये प्रति मासकी छात्रवृत्ति स्वीकृत हुई है। किंतु इस छात्रवृत्तिका धन आजतक इस स्त्रीको इसलिये नहीं मिल सका; क्योंकि वह सम्बन्धित लिपिकको पाँच रुपयेकी रिश्वत नहीं दे सकी।'

प्रिय महोदय ! आपका कृपापत्र तथा 'गाण्डीव', वाराणसी (४ मार्च १९६८)में प्रकाशित 'ईमानदारकी मौत' शीर्षक उपर्युक्त संवादकी कतरन मिली। आपने इसपर जो कुछ लिखा, उसके उत्तरमें निवेदन है कि यह एक घटना तो समाचारपत्रमें छपी है, पर वास्तवमें भूखके मारे कितनोंके प्राण व्याकुल रहते होंगे, कितने लोग धीरे-धीरे मृत्युके मुखमें जा रहे होंगे, रोज कितने तड़प-तड़पकर मरते होंगे—इनकी संख्या किसीको ज्ञात नहीं है। यह संख्या बहुत बड़ी हो सकती है। मेरा ऐसे बहुतसे लोगोंसे सम्पर्क रहता है, मुझे कुछ पता है। वस्तुतः बड़ी ही दयनीय स्थिति है।

रिश्वत न देनेके कारण इन भाईको समयसे पूर्व अवकाश प्राप्त कराया गया और इनकी पत्नीको स्वीकृत छात्रवृत्ति नहीं मिली। ये बातें यदि सत्य हैं तो यह हमारे घोर नैतिक पतनकी पराकाष्ठाका परिचय है !

कहा तो जाता है कि देश समृद्ध तथा सुखी हो रहा है, पर देशमें वस्तुतः जीवनयापनका कष्ट कितना बढ़ रहा है, इसकी तरफ बहुत कम लोगोंका ध्यान है। जीवनका स्तर ऊँचा उठानेके नामपर अनावश्यक आवश्यकताएँ बढ़ गयीं; जिनके पास कुछ है, उनके संग्रह-परिग्रहकी वृत्ति बढ़ी; सबको सुखी देखने-बनानेकी जगह केवल अपने ही शरीर तथा नामका स्वार्थ-साधन प्रायः जीवनका उद्देश्य बन गया, जिससे अनाचार, भ्रष्टाचार, अत्याचारको प्रोत्साहन मिला। परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल-भोगके सिद्धान्तमें अविश्वास पैदा कराया गया और कराया जा रहा है। इसीका परिणाम है—यह जीवननिर्वाह तकका महासंकट! इस समय, किन्हींकी समझमें आ जाय और उचित समझें तो नीचे लिखे कार्य करने आवश्यक हैं—

(१) अपने खान-पान, रहन-सहन, कपड़े-लत्ते आदिकी आवश्यकताओंको घटाकर, उन्हें कम-से-कम कर देना। आजकल तो आवश्यकताएँ और फैशनकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ा ली गयी हैं कि एक दूसरेकी देखादेखी—(अपने पास न होनेपर भी) तकलीफ भोगकर, झूठ बोलकर, ऋण लेकर, यहाँतक कि चोरी-ठगी-बेईमानी करके भी लोग अपनी बनायी हुई आवश्यकताएँ पूरी करना चाहते हैं। ऐसा कदापि न करना।

(२) बहुमूल्य वस्तुओंके बदले स्वास्थ्यकर, शुद्ध, कम कीमतकी वस्तुओंका सीमित आवश्यकतानुसार सेवन करना।

(३) सब प्रकारके—खानपान, आमोद-प्रमोद, सैर-सपाटा आदि व्यसनोंका परित्याग करना, उन्हें कम-से-कम [illegible] करना।

(४) एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा, रविवार आदि किसी तिथि-वारको महीनेमें कम-से-कम दो बार व्रत रखना। व्रतके दिन निराहार रहना या एक समय बहुत ही सादा, कम कीमतका, स्वास्थ्यकर परिमित शाकाहारादि करना।

(५) धन-सम्पत्तिपर अपना प्रभुत्व न समझकर उसे भगवान्‌की वस्तु समझना। अतः उसे व्यर्थ प्रमादमें न खोकर तथा अपने लिये आवश्यकतानुसार उसका कम-से-कम उपयोग करके शेषको जीवमात्रकी यथायोग्य सेवाके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाते रहना।

(६) अपने जान-पहचानके, आस-पासके, अड़ोस-पड़ोसके और अपरिचित अभावग्रस्त लोगोंकी स्थितिका पता लगाकर, ढूँढ़-ढूँढ़कर अपनी शक्तिके अनुसार, विज्ञापन न करते तथा किसी प्रकारका अहसान न जनाते हुए, उनके मान-प्रतिष्ठाकी सुरक्षा करते हुए गुपचुप आदरभावसे अन्न-वस्त्र, दवा, बच्चोंकी पढ़ाई आदिके अभावोंकी पूर्तिमें यथासाध्य सहायता करना।

यह याद रखना चाहिये कि हम मजेमें खायें-पियें और हमारे ही पड़ोसमें हमारे ही जैसे आदमी भूखसे तड़पते हुए मर जायँ; यह पाप है!

(७) जो लोग काम कर सकते हों, पर जिनको काम न मिला हो, उनके लिये प्रयत्न करके काम खोज देना। अभावके समय अन्नादिके लिये आर्थिक सेवा तो आदरपूर्वक करनी ही चाहिये, पर उससे भी अधिक गौरवकी सेवा किसीको काम सिखाकर कमाने योग्य बना देने—किसीको कहीं उसके उपयुक्त काममें लगाकर उसे स्वयं कमाकर अपने श्रमकी कमाईका खानेवाला बना देनेमें है, अपनी सहायता आप करनेयोग्य बना देनेमें है। इससे उसकी स्थायी सेवा होती है और उसका मानसस्तर ऊँचा उठता है।

(८) यह निश्चित नियम बना लेना कि हम प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार अपनी थोड़ी कमाईका भी कुछ अंश बचाकर उसे अभाव-ग्रस्तोंकी सेवामें आदरपूर्वक लगायेंगे। यों सेवा करनेके बाद जो बच रहता है, वही पवित्र 'भगवत्प्रसाद' है।

अपनी आवश्यकताओंको घटानेसे कष्ट, ऋण और चोरीसे तो आदमी छूटता ही है, यह तो उसे परम लाभ है ही। पर सम्भव हो तो कुछ और भी संयम करके कुछ खर्च घटाकर (चाहे एक रुपयेमें दो पैसे ही हों) उसको अभाव-ग्रस्तोंकी सेवामें लगाना चाहिये।

(९) जिनके पास आवश्यकता कम करनेसे जितने पैसे बचें, उनको तो अभावग्रस्तोंकी सेवामें लगाना ही है, प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नियमित सेवा अवश्य करना। जिनके पास प्रचुर धन है उनका यह परम कर्तव्य है कि जैसे पैसेके लोभी लोग दिन-रात पैसे कमानेकी युक्तियाँ सोचते रहते हैं और पैसे कमानेमें लगे रहते हैं, वैसे ही वे उस धनको विविध भाँतिसे अभावग्रस्तोंके अभाव मिटानेमें लगानेकी युक्तियाँ सोचते रहें और लगातार लगाते रहें। पर अभिमान न करें; जिसको दें, विनयपूर्वक उसकी सम्मान-रक्षा करते हुए दें। विज्ञापन न करें। देनेमें इन्वेस्टमेंटकी भावना और यश-कीर्तिकी कामना यथासाध्य न रक्खें। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के कार्यमें लग रही है। इसे लगाना ही कर्तव्य—धर्म है—ऐसा सोचकर दें।

हमारे यहाँ जो प्रतिदिन 'पञ्चमहायज्ञ'का विधान है, उसका भी यही व्यापक अभिप्राय है। जिन सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु आदिसे हमें सहज रक्षण-पोषण मिलता है, उन देवताओंको, जिनसे सदासे ज्ञानका प्रकाश मिलता रहता है उन ऋषि-मुनियोंको, जिन्होंने अपना सुख त्याग करके हमारा पालन-पोषण—हितसाधन किया है उन पितरोंको (माता-पिता-गुरु आदिको), जिनसे जीवनयापनमें सदा ही सहज सहयोग-सहायता मिलती रहती है उन मनुष्योंको और जिन इतर जीवोंसे हम भाँति-भाँतिसे जीवनयापनमें सुविधा तथा सुयोग प्राप्त करते रहते हैं उन सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रतिदिन उनका हिस्सा पहले देकर बचे हुएसे हम अपनी उदरपूर्ति करें। सबका हिस्सा देकर शेषसे जीवनयापन करें। यही ठीक वितरण है। ऐसा करने लगें तो बहुतोंका अभाव दूर हो सकता है।

आप मेरे इस निवेदनपर विचार करें; स्वयं इन कार्योंको करें, दूसरोंमें इनका प्रचार करें। यह भगवत्सेवा होगी। शेष भगवत्कृपा।

(२)

विवाह क्या सभीके लिये परमावश्यक है

प्रिय बहिन, सस्नेह हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

मनुष्य-प्राणीमें प्रकृतिजनित दोष-गुण रहते हैं। भगवान्की सृष्टि ऐसी ही है कि उसमें सृष्टिसंचालनके लिये स्त्री-पुरुषका मिलन आवश्यक है और इस आवश्यकताकी अवहेलना न हो, इसलिये जीवनके एक भागमें नैसर्गिक मिलनकी माँग भी बना दी गयी है। वह माँग कहीं अनर्गल होकर पतनके पथमें न ले जाय, इसके लिये विवाह आवश्यक है, परंतु विवाह भी कहीं वासनाकी प्रेरणासे न हो जाय, इसलिये विवाहकी विधिका निर्माण किया गया, जिससे जीवनकी नैसर्गिक माँग पूरी हो, जीवन उच्छृङ्खल हो नहीं और स्रष्टाका उद्देश्य भी सिद्ध हो। इसीलिये विवाह हमारे यहाँ एक पवित्र धर्म-संस्कार है, वासनाजनित सौदा नहीं है। पर यह आवश्यक नहीं है, जिसमें संयमसे रहनेकी इच्छा तथा शक्ति हो वह विवाह करे ही। अवश्य ही असंयमका जीवन बितानेकी अपेक्षा विवाह कर लेना बहुत श्रेष्ठ है। पर जो संयमसे रह सकता हो, जिसको जीवनमें अध्यात्मपथपर ही अग्रसर होना है त्यागके आधारसे, वह पुरुष या स्त्री विवाहके बन्धनमें न बँधकर आजीवन पवित्र ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है। प्राचीन कालमें ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हुए हैं तथा अब भी हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अतएव कोई लड़की यदि जीवनभर ब्रह्मचर्य व्रतसे रहना चाहती हो और उसे आत्मविश्वास हो तो वह रह सकती है। पर इस आसुरी वायुमण्डलमें रहना होगा—बड़ी सावधानीसे

बिना विवाह किये कुमारी लड़कियोंकी मृत्यु होनेपर उन्हें भूत-प्रेतकी योनिमें जाना पड़ता है—यह नियम नहीं है। जिसके कर्म तामस होंगे—आसुरी सम्पदा जिसके जीवनकी पद्धति होगी, वह अवश्य भूत-प्रेतकी योनिमें और नरकोंमें जायगा। दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक मनुष्य चाहे वह कुमार-कुमारी हो या विवाहित पुरुष-स्त्री हो, भूत-प्रेतकी योनिमें या नरकोंमें क्यों जायँगे ? 'दैवीसम्पद् विमोक्षाय।' दैवीसम्पदा तो मोक्षदायिनी होती है।

स्त्रियोंके लिये गुरुदीक्षा आवश्यक नहीं है। भगवान् ही सबके गुरु हैं। उनका भजन करे। श्रद्धायुक्त भगवत्-शरणागति हो, पवित्र आचरण हो, भगवान्में विश्वास हो और जिस नाम या मन्त्रका जप करे वह अपनेमनको रुचिकर होनेके साथ ही शास्त्रीय हो तथा संत-भक्तोंका सम्मत हो।

आपके भाई-बहिन विवाहके लिये आग्रह करते हैं, सो वे तो अपनी दृष्टिसे आपका भला सोचकर ही करते हैं। आजकलका युग बहुत बुरा है, वातावरण दूषित है, सङ्ग भी अधिकतर गिरानेवाला ही मिलता है। इसलिये भाई-बहिन सद्भावसे आपके जीवनकी पवित्रताकी रक्षा आदिके लिये विवाहका आग्रह करें तो उनका ऐसा करना उचित ही है। पर आपको अपने अन्तःकरणपर विश्वास हो, भगवत्कृपाका बल हो और संयमका जीवन बितानेका आपका दृढ़ निश्चय हो तो आप नम्रताके साथ उनको अपनी पवित्र इच्छा समझा दीजिये। वे समझ जायँगे तो फिर आग्रह नहीं करेंगे। निश्चय पक्का होगा तो भगवान्की तथा भाई-बहिनोंकी भी आपको व्रत-रक्षामें सहायता प्राप्त होगी।

जिस कर्मसे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें अनिष्ट होता हो, नैतिक पतन होता हो, वह बुरा—पापकार्य है और जिससे अपना तथा दूसरोंका परिणाममें हित होता हो और नैतिक उत्थान होता हो—जीवन सत्त्वकी ओर बढ़ता हो वह अच्छा—पुण्यकार्य है। इस कसौटीपर कसकर कर्म करते रहना चाहिये। कर्म भी करना चाहिये—भगवत्-स्मरण करते हुए—भगवान्की पूजाकी भावनासे। गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

'......सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च॥

(८।७)

'सब समय निरन्तर मेरा (भगवान्का) स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'अपने कर्मके द्वारा उस भगवान्को पूजकर मनुष्य परम सिद्धि (जीवनकी चरम सफलता) को प्राप्त होता है।'

विवाहका मन नहीं है तो न करें। पर अपने मनको सर्वथा पवित्र संयममें रखनेकी अत्यन्त सुदृढ़ प्रतिज्ञा करके ही ऐसा करें। शेष भगवत्कृपा।

(३)

अच्छे माता-पिताके आज्ञानुसार करना चाहिये

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप २५ माला सुबह, २५ माला शामको जप करती हैं। कुछ ध्यान-सेवा आदि करती हैं। फैशन, खान-पान, घूमने-

फिरनेका आपका कोई भी व्यसन या शौक नहीं है। न धनका ही प्रलोभन है। सो ये सभी बातें बहुत अच्छी हैं। आपके माता-पिता खूब भजन करते हैं, घर भी अच्छा है, किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं है—यह सब भगवत्कृपाका फल है। ऐसे भक्त माता-पिता आपके लिये जो सोचेंगे—सब ठीक सोचेंगे। वे आपके स्वास्थ्यकी हालत भी जानते हैं तथा आपकी भजनमें प्रवृत्ति है, इससे भी परिचित हैं। उनसे बढ़कर आपका हितैषी कौन होगा। आपके सम्बन्धमें वे सोच-विचारकर जो निश्चय करें, आपको वही करना चाहिये।

सदा-सर्वदा भगवान्को अपना समझिये। सचमुच वे हमारे अपने-से-अपने हैं। उनकी कृपापर विश्वास कीजिये। उनके मङ्गलमय विधानसे सब मङ्गल ही होगा।

शेष भगवत्कृपा।

(४)

निर्भय बनिये

प्रिय श्री'रमेश-दुबई'जी! सादर हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

(१) सिद्धान्त तथा सत्य तथ्यके अनुसार भूत-प्रेत-योनिका अस्तित्व है और उनके कार्य भी होते हैं। पर भूत-प्रेतोंके नामसे जितनी बातें कही जाती हैं, उनमें सभी सचमुच भूत-प्रेतोंकी नहीं होतीं। कुछ मानस-संकल्पजनित होती हैं, कुछ हीस्टीरिया आदि रोगोंके कारण होती हैं, कुछ मानसिक दुर्बलताओंको लेकर होती हैं, कुछ ढोंग होती हैं और कुछ भोलेभाले लोगोंको ठगनेके लिये दिखावामात्र होती हैं।

(२) आपको जो भयानक सपना आया, वह मेरी धारणामें बहुत अंशोंमें केवल स्वप्न-जगत्की मानस-कल्पना मात्र है, उसमें सत्य नहीं है। हाँ, आपके अन्तर्मन (Subconscious mind) में पुराने कोई संस्कार ऐसे हो सकते हैं। पर उनका वर्तमानसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) यदि आपके मनमें कुछ भय आ गया हो तो वह आपके मनकी कमजोरी है। उसके विरोधी निर्भयताके विचारों (Thoughts of fearlessness) को बार-बार दुहराकर उसे निकालिये। आप हनुमानचालीसाका पाठ रोज करते ही हैं। हनुमानचालीसामें आता है—'भूत पिसाच निकट नहिं आवै। हनुमान जब नाम सुनावै।' हनुमान्जीके नामसे ही भूत-प्रेत भाग जाते हैं। आप श्रद्धापूर्वक 'हनुमानचालीसा' के पाँच या ग्यारह पाठ रोज कीजिये। नकली तो क्या, असली भूतका भय भी भाग जायगा; टिक नहीं सकेगा। आप निश्चय कीजिये।

गीताके ११वें अध्यायका ३६वाँ श्लोक है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥

इस मन्त्रको ११ बार बोलते हुए एक लोटा शुद्ध जलमें दाहिने हाथकी तर्जनी अंगुली फिराते जायँ। फिर उस जलको कमरेमें तथा जहाँ सोते हों उस बिछौनेके चारों ओर छिड़क दें। यह क्रिया रोज दोनों समय सुबह-शाम करें। भूत-प्रेतका भय नहीं रहेगा। शेष भगवत्कृपा।

(५)

भगवान्के अवतार

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि सचमुच भगवान्का कहीं अवतार हो गया हो या होनेवाला हो तथा शीघ्र ही विश्वमें अधर्मका नाश एवं धर्मका संस्थापन होनेवाला हो तो इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या हो सकती है? पर जहाँतक हमलोगोंकी बुद्धि काम देती है, जहाँतक शास्त्रोंके वचन मिलते हैं, यह कहा जा सकता है, अभी वस्तुतः सच्चिदानन्द-घन भगवान्का अवतार कहीं नहीं हुआ है। यों तो हमारे पास ऐसे बहुत पत्र आये हैं—आते हैं, जिनमें साक्षात् पर-ब्रह्म, भगवान् विष्णु, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम (चारों बन्धु), भगवान् शंकर, भगवती दुर्गा आदिके अवतारोंका उल्लेख रहता है। इन सबके एक-एकके कई जगह कई अवतार होनेकी बात लिखी रहती है और प्रायः सभी उनके पूर्णावतारका दावा करते हैं। बात ठीक समझमें नहीं आती—एक ही विष्णु भगवान्के, एक ही श्रीकृष्ण या श्रीरामके अलग-अलग कई जगह अवतार कैसे हो गये? भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं, पर जबतक बात समझमें न आ जाय, तबतक कुछ भी कहते नहीं बनता। हाँ, इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि जहाँ भगवान् या अवतारके नामपर अपनी पूजा-प्रतिष्ठा करानेका प्रयत्न है, धन-सम्मानकी माँग है, वहाँ अवश्य सावधान हो जाना चाहिये। यों तो भगवान्का कभी कहीं न अभाव है, न हो सकता है। जीवमात्रके रूपमें भगवान् ही

अवतरित और अभिव्यक्त हैं। अतः सदा सर्वत्र भगवान्‌को मानकर शास्त्रके आज्ञानुसार भगवान्‌का भजन-पूजन, ध्यान, सेवन अवश्य करना चाहिये। किसीका भी विरोध नहीं करना चाहिये। शास्त्रोक्त उचित बात सभीकी अच्छी है। अशास्त्रीय यथेच्छाचार तथा केवल भोगलिप्साकी बात सदा ही बुरी है और त्याज्य है। शेष भगवत्कृपा।

(६)

भोजनकी शुद्धि क्या है ?

सम्मान्य महोदय, सादर हरिस्मरण। आपका लंबा कृपापत्र मिला। भोजनमें शुद्धि परमावश्यक है। जैसा अन्न खाया जाता है, वैसा ही मन बनता है और जैसा मन होता है वैसे ही उससे कर्म होते हैं और वही उसका स्वरूप होता है। कर्मानुसार ही आगे फल मिलता है। भोजनकी शुद्धिके लिये नीचे लिखी बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है।

चोरी, ठगी, डकैती, खून, अन्याय, असत्य, धोखा तथा व्यभिचार आदिके द्वारा आये हुए पैसे अशुद्ध होते हैं। ऐसे पैसोंसे आया हुआ अन्न तथा चोरीसे दूसरेके हकका लाया हुआ अन्न सर्वथा अशुद्ध है। उस अन्नके भोजनसे मन-बुद्धि बिगड़ते हैं। उनमें वैसी ही पापवासनाका उदय होता है।

मांस, मद्य, मछली, अंडे—इनके संयोगसे बने भोज्य पदार्थ, चर्बी, हड्डी-मिले पदार्थ, तामसिक वस्तुएँ—जैसे प्याज-लहसुन आदि, उच्छिष्ट (दूसरोंकी जूँठी) वस्तुएँ, दुर्गन्धयुक्त—ये सब अशुद्ध वस्तु हैं। बड़ी सावधानीके साथ इनका त्याग किये रहना चाहिये। इनके सेवनसे मनुष्यका निश्चित पतन होता है।

भोजन बनानेवाला व्यक्ति स्वयं सदाचारी, शुद्ध स्नान किया हुआ, शुद्ध वस्त्र पहने हुए, नीरोग हो, भोजन बनाते समय उसके मनमें प्रेम, सद्भाव, शान्ति, श्रद्धा हो; काम-वासना, क्रोध, वैर, हिंसा या अहितकी भावना न हो। चटोरा न हो जो बनाता-बनाता ही चुपकेसे खाता जाय। ऐसा पाचक रसोइया शुद्ध होता है; अशुद्ध पाचकके द्वारा बनाये भोजनमें उसके दोष संक्रमित होकर भोजन करनेवाले-पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

भोजन बनानेका स्थान शुद्ध हो, जिसमें गंदगी, रोगकारक कीटाणु न भरे हों (पहले रसोई बनानेका स्थान नित्य गोबर-मिट्टीसे लीपा जाता था; जिससे रोग-कीटाणु नहीं रह पाते थे)। जिस स्थानमें व्यभिचार, जूआ, चोरी, मांसादि अखाद्य वस्तुओंका पाक तथा भक्षण न होता हो, शराब न पिया जाता हो। यह स्थानकी शुद्धि है। अशुद्ध स्थानमें बने भोजनमें वहाँकी अशुद्धि आ जाती है।

भोजन बनानेके बर्तन शुद्ध हों। शुद्ध धातुसे बने हों या मिट्टीके नये बर्तन हों। जूँठे, मैले तथा काट लगे न हों, जिनमें कभी मांसादि न पकाया गया हो, जो नीचकर्मा मनुष्योंके द्वारा स्पर्शित तथा काममें लाये हुए न हों।

भोजन बनाने तथा करानेवालेमें जहाँ श्रद्धा, प्रेम, आत्मीयता, हितभावना रहती है, वहाँ उस भोजनमें इन्हीं भावोंका संक्रमण होता है, जो भोजन करनेवालेका बड़ा मङ्गल करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने राजा दुर्योधनके अनुरोध करनेपर भी उसके यहाँ उसमें प्रेम तथा सद्भाव न होनेके कारण बहुमूल्य तथा विविध प्रकारके बढ़िया भोजन करनेसे इन्कार कर दिया था और भक्त विदुरकी कुटियापर जाकर सादा पर प्रेमभरा भोजन किया था।

माता, धर्मपत्नी, बहिन तथा मनमें अत्यन्त स्नेह रखनेवाले लोगोंके द्वारा बनाया हुआ तथा कराया हुआ भोजन शुद्ध तथा लाभदायक माना गया है।

भोजन करनेवाला स्वयं शुद्ध हो, स्नान किये हुए तथा शुद्ध वस्त्र पहने हुए हो। हाथ-पैर-मुँह धोकर शान्तिसे शुद्ध आसनपर बैठकर भोजन करे। भोजन करते समय मनमें कामवासना, क्रोध, हिंसा, वैर-वृत्ति न हो। मन प्रफुल्लित हो। अन्नको प्रणाम करके भोजन करे, मौन रहे या सात्त्विक बातचीत करे; भूखसे अधिक न खाय। जीभके स्वादकी अपेक्षा वस्तुके गुण-दोषपर तथा अपने शरीरपर होनेवाले उसके परिणामपर अधिक ध्यान रक्खे। खड़े होकर घूमता-फिरता हुआ या जूता पहने कभी न खाये। खानेके बाद कुल्ले करे जिससे दाँतोंमें अन्नकण न रह जाय, तदनन्तर हाथ अवश्य धोवे। जूँठन न छोड़े।

भोजन करते समय आरम्भमें भगवान्‌का स्मरण करके बलिवैश्वदेव किये अन्नका भोजन करना बहुत उत्तम है। भोजन करनेसे पहले अन्नका कुछ हिस्सा निकालकर अलग रख दे जो गौ तथा पशु-पक्षी आदिको खिला दे, या पहले खिलाकर तब भोजन करे।

भोजन करनेके शास्त्रीय विधानकी कुछ आवश्यक बातें ये हैं—

भोजन तैयार होनेपर—

एतदन्नादिकं सर्वं ॐ अच्छिद्रमस्तु स्वाहा।

यह मन्त्र बोलकर तथा भगवान्‌का नाम लेकर भोजनको त्रुटिरहित पवित्र बनावे।

तदनन्तर—

'ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।'

'ॐ अमृतविधानमसि स्वाहा॥'

बोलकर अन्नको ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर—अमृतसे परिभावित करे; जिससे अन्न शुद्ध हो जाय। शुद्ध आहारसे सत्त्व—अन्तःकरणकी (मन-चित्त, बुद्धि आदिकी) शुद्धि होती है और सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति होती है। जिससे मानव-जीवन पूर्ण सफलताकी ओर अग्रसर होता है।

ॐ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

इसके बाद—

ॐ अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्।

ॐ प्राणमयाय स्वाहा एष प्राणः।

ॐ मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः।

ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्।

ॐ आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः।

क्रमशः इन मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए अन्नका सत्कार करके देहकी पुष्टि, प्राणकी पुष्टि, मनकी पुष्टि, विज्ञानमय कोषकी तृप्ति और आनन्दमय आत्मा (परमात्मा) की तृप्तिकी भावना करे।

इसके पश्चात्—'एतदन्नादिकं ॐ ब्रह्मार्पणमस्तु' उच्चारण करके अन्न भगवान्‌के अर्पण करे। तदनन्तर घरमें भगवान्‌का श्रीविग्रह हो तो उनके भोग लगावे, **नहीं तो मानस** निवेदन करे।

भगवान्‌के निवेदित होनेपर वह अन्न 'भगवान्‌का दिव्य प्रसाद' बन जाता है। अतः निम्नलिखित श्लोक बोलकर सब जीवोंके अर्पण करे—

आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः।
मया दत्तेन अन्नेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम्॥

(इसके बाद सम्भव हो तो बलिवैश्वादि करे) फिर स्वयं 'प्रसाद' पावे। प्रसाद पानेके समय पाँच ग्रासोंसे निम्नलिखित मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करते हुए पञ्च प्राणोंमें आहुति प्रदान करे।

ॐ प्राणाय स्वाहा।

ॐ अपानाय स्वाहा।

ॐ व्यानाय स्वाहा।

ॐ समानाय स्वाहा।

ॐ उदानाय स्वाहा।

आहुति देते समय क्रमशः भावना करे—हे प्राण! इस अन्नको यथायोग्य रस, रक्त और वीर्यमें परिणत करो। हे अपान! तुम दूषित अपक्व भागको मल-मूत्र रूपसे बाहर निकाल दो। हे व्यान! तुम रक्तको यथायोग्य पूरे शरीरमें संचालित करो। हे समान! तुम जहाँ जितना रस-रक्तादि चाहिये, उतना रस-रक्तादि देकर सबको उज्जीवित रक्खो। और हे उदान! मेरे शरीरकी उचित परिणति और उच्च स्तरकी प्राप्तिमें सहायता करो।

हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि जो अन्न भगवान्‌के निवेदन किये बिना खाया जाता है, वह मल-सदृश अपवित्र तथा हानिकारक है।

वास्तवमें भगवान् ही अन्न, अन्नदाता, अन्नभक्षण, अन्नगृहीता बनते हैं, वे ही वैश्वानर रूपसे अन्नको पचाते हैं—भगवान्‌के वचन हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।
(गीता)

'मैं ही वैश्वानर होकर चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ।'

भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये—

तन की रक्षा करने, करने मन का पूरा शान्तिविधान।
करने नित्य परमहित बनकर अन्न तुम्हीं आते भगवान॥
करके ग्रहण इन्द्रियों द्वारा ले जाते तुम अपने पास।
यों तुम यज्ञ बना देते मेरे भोजनको बिना प्रयास॥
तुम्हें निवेदित होकर वह बन जाता अन्न पुनीत प्रसाद।
तीनों लोक तृप्त हो जाते उससे, मिटते ताप-विषाद॥
अन्न तुम्हीं, अर्पण तुम ही हो, अर्पक तुम्हीं, तुम्हीं अन्तस्थ।
तुम्हीं गृहीता, तुम्हीं प्रकृति, पुरुषोत्तम, तुम्हीं पुरुष प्रकृतिस्थ॥
तुम्हीं सभी कुछ, तुममें ही सब, तुम्हीं नित्य हो मेरे साथ।
नित्य सतत मैं सब कार्योंसे पूजा करूँ तुम्हारी नाथ!॥

हे भगवन्! तुम्हीं शरीरकी रक्षा करने, मनको पूर्ण शान्ति देनेके लिये तथा नित्य मेरा परम हित करनेके लिये

अन्न बनकर आते हो। फिर, तुम्हीं इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करके अपने पास (अन्तःस्थित वैश्वानररूपमें) ले जाकर बिना ही प्रयास मेरे उस भोजनको 'यज्ञ' बना देते हो। तुम्हारे निवेदित होकर वह अन्न पवित्र 'प्रसाद' बन जाता है। फिर उससे तीनों लोक तृप्त हो जाते हैं और शोक-संताप मिट जाते हैं।

भगवन् ! तुम्हीं अन्न हो, तुम्हीं अर्पण हो, तुम्हीं अर्पण करनेवाले हो, तुम्हीं 'प्रकृति' हो, तुम्हीं प्रकृतिमें स्थित 'पुरुष' हो और तुम्हीं 'पुरुषोत्तम' हो। तुम्हीं सब कुछ हो, तुम्हींमें सब कुछ है; और तुम्हीं नित्य मेरे साथ रहते हो। नाथ ! मैं अपने सारे कर्मोंके द्वारा नित्य-निरन्तर तुम्हारी ही पूजा करता रहूँ—(यही प्रार्थना है।)'

भोजन बनाते समय गृहिणियाँ भगवान्से मन-ही-मन प्रार्थना करें—

तुमने ही प्रभु ! आत्म-रूपसे इन देहोंमें किया प्रवेश।
इसीलिये ये पूज्य प्रिय हैं, नाम-रूप विभिन्न धर वेश॥
तुम इनमें सुस्थिर हो तबतक ये पाते सबसे सम्मान।
जहाँ विलग तुम हुए, जलाने तन, ले जाते तुरत श्मशान॥
तुम ही घर, घरवाले तुम ही, तुम्हीं सत्य प्रियतम आत्मीय।
अर्चनीय हो तुम्हीं, एक बस वन्दनीय, अविरत वरणीय॥
अन्न तुम्हारी वस्तु, कर रहीं पाक तुम्हारी हम घनश्याम।
एक तुम्हारे लिये, तुम्हारे ग्रहण योग्य यह हो अभिराम॥
तुम्हीं ग्रहण कर, आस्वादन कर इसे बना दो महा प्रसाद।
सेवा-शक्ति बढ़े मिट जायें सारे अन्तराय-अवसाद॥

'हे प्रभो ! (घरवालोंके) इन सब शरीरोंमें आत्माके रूपसे तुम्हींने प्रवेश किया—इसीसे ये भिन्न-भिन्न नाम, रूप और वेश धारण करनेवाले सब यथायोग्य (जीवित हैं,) पूज्य हैं, प्रिय हैं। तुम इनके अंदर विराजमान हो, तभीतक ये सबसे सम्मान प्राप्त करते हैं। तुम (आत्मा) जहाँ अलग हुए कि फिर (मुर्दा) शरीरको जलाकर भस्म करनेके लिये तुरंत ही श्मशानपर ले जाते हैं। प्रभो ! तुम्हीं घर हो, तुम्हीं घरवाले हो, तुम्हीं सत्य-सत्य प्रियतम और आत्मीय हो; तुम्हीं एक, बस, पूजनीय हो, वन्दनीय हो और नित्य वरणीय हो। यह अन्न तुम्हारी ही वस्तु है; हे घनश्याम ! हम भी तुम्हारी ही हैं, एक तुम्हारे लिये ही भोजन बना रही हैं। यह हमारा पाक तुम्हारे ग्रहण करने योग्य सुन्दर बने। फिर तुम्हीं इसे ग्रहण कर—इसका आस्वादन कर इसे 'महाप्रसाद' बना दो। जिससे हमारी सेवा करनेकी शक्ति बढ़े और सारे विघ्नों—कष्टोंका नाश हो जाय।'

भोजन एक ऐसा कृत्य है जिसके संयमपूर्ण शुद्ध रहनेसे वह भगवान्की पूजा बनता है—भोजनके द्वारा मनुष्य अंदर रहे हुए वैश्वानररूप भगवान्को तृप्त करके उनसे स्वास्थ्य, दीर्घायु, सात्त्विक विचार, शुभ परिणाम, भगवत्कृपा, शुभमति, सुख तथा शुभ-गतिको प्राप्त करता है और इसके विपरीत अशुद्ध अनर्गल भोजनसे रोग, मानस-पतन, अशुभ परिणाम, तामस बुद्धि, दुःख तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है।

जो भोजन सबका हिस्सा देकर किया जाता है, वह ईमानदारीका और पापनाशक होता है, जो केवल अपने लिये ही होता है वह पापमय होता है।

उपर्युक्त बातें शुद्ध भोजनके लिये बहुत आवश्यक हैं। इनका यथासाध्य अधिक-से-अधिक पालन करना चाहिये।

शुद्ध

भगवच्चिन्तन, सत्-चिन्तन, पर-हित चिन्तनसे हो मन शुद्ध।
भगवन्नाम-गान, ऋत-हित-मित भाषणसे हो वाणी शुद्ध॥
विनय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य गुरु-सेवासे होता तन शुद्ध।
सात्त्विक, हिंसारहित, सत्यसे अर्जित धनका भोजन शुद्ध॥
निज-पर-हित जिससे सुसाध्य हो, कर्म वही होता है शुद्ध।
सदाचार जो शास्त्र-संतजन-सम्मत हो वह होता शुद्ध॥

शिक्षाका रिक्तांश—धर्म

(लेखक—श्रीवेदव्रतजी दीक्षित, एम्० ए०, एल्० टी०)

देश किधर जा रहा है?—समाज किधर जा रहा है? यदि यह प्रश्न किया जाय तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि उधर नहीं, जिधर जाना चाहिये था। हम वहाँ नहीं हैं, जहाँ हमें होना चाहिये था। लगता है कि हम सब भटक गये हैं और मार्ग खो गया है। कुछ वर्षोंमें ही एक बड़ा परिवर्तन आया है। हमें उन्नत भविष्यकी बड़ी-बड़ी आशाएँ-अभिलाषाएँ थीं। स्वतन्त्रताके इन बीस वर्षोंमें क्रमशः कम होती हुई आज वे आशाएँ-अभिलाषाएँ समाप्त हुई-सी लगती हैं। पिछले दिनों हम कितने महत्त्वाकांक्षी थे, आज अपने अस्तित्वको बनाये रखनेकी चिन्तामें ही घुले जा रहे हैं!

दुर्गत समाज शिक्षाके क्षेत्रमें भी प्रगतिशील नहीं हुआ करता। लेकिन इधर तो शिक्षा इतनी अर्थहीन हो गयी है कि उसे देखकर दुःख हुए बिना नहीं रहता। शिक्षार्थियोंकी गतिविधि देख लोग उसे 'खोयी हुई पीढ़ी' का नाम देते हैं। कोई बड़ा लक्ष्य या उद्देश्य उनके सामने मानो है ही नहीं। गाँधी-युगमें 'शिक्षा किसलिये?' का यदा-कदा बड़ा उत्तर मिल सकता था—देशके लिये, समाजके लिये, सेवाके लिये। वर्तमान समयमें ये सब दूरकी बातें लगती हैं। छात्रोंकी छोटी-बड़ी महत्त्वाकांक्षाएँ धन या पदसे सम्बद्ध हैं। वे टेरीनके चमचमाते कपड़ोंसे लगाकर कार-बँगले और फ्रीजकी परिधिमें चक्कर मारती हैं। भोग प्राप्त नहीं है, भोगवासना है। इस निर्धन देशमें ऐसा समुदाय गलत रास्तेपर जाय, यह अनिवार्य है।

यह सही बात है कि जब समाज ही घुन रहा है तो केवल छात्रवर्गके विषयमें कुछ कहना विचारके क्षेत्रमें एकाङ्गिताका सूचक है, परंतु यह वर्ग दूसरोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, नवयुगका वाहक बननेकी क्षमता इसीमें है; अतः इससे अधिककी आशा अस्वाभाविक नहीं है।

शिक्षार्थी जितने असंतुष्ट हैं, शिक्षाके क्षेत्रमें उतनी ही उथल-पुथल दिखलायी देती है। ह्रासके लक्षण उद्योग-बाणिज्य तथा शासनके क्षेत्रोंमें जितने शीघ्र परिलक्षित होते हैं, शिक्षाके क्षेत्रमें उतनी शीघ्रतासे नहीं। इसके लिये वर्षों-का समय भी थोड़ा है। शिक्षाके परिणाम पहचाननेमें पूरी पीढ़ीका समय लग जाता है। यह निश्चित है कि आज जो स्थिति है, उसके मूल कारण बहुत पहलेसे मौजूद रहे हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पूर्व और स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात्-की स्थितियोंमें एक बहुत बड़ा अन्तर है। गाँधीजीकी सबसे बड़ी देन थी—आस्था, भविष्यमें विश्वास। उन्होंने बड़े कामके लिये चरखा-तकली-जैसे छोटे साधन अपनाये और भारतवासियोंको एक बहुत बड़ी चीज दी—'आत्मविश्वास'। इसी विश्वास और आस्थाका संबल लेकर देश आगे बढ़ सका।

गाँधीजीने पहचाना कि आस्थाके लिये धर्म आवश्यक है। ईश्वरमें विश्वास आवश्यक है। इसके लिये उन्होंने प्रार्थना और राम-नामको जीवनचर्यामें अनिवार्य स्थान दिया। उन्होंने राजनीति और धर्मको एक दूसरेका विरोधी नहीं—पूरक बतलाया।

इधर स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् 'धर्मनिरपेक्षता' की इतनी दुहाई दी गयी कि उसने एक अजीब फैशनका रूप ग्रहण किया और शिक्षाके क्षेत्रमें तो वह धर्महीनता ही नहीं, घोर नास्तिकताका पर्यायवाची बन गया। अनास्था, जीवनके मूल्योंमें अविश्वासके रूपमें उसका दुष्परिणाम भी सामने आया है। अब जब विनय, अनुशासन, देशप्रेम तथा त्याग-की बड़ी बातें नयी पीढ़ीसे की जाती हैं, वह पीढ़ी जो स्कूल-कालेजोंमें एक विचित्र व्यर्थताका अनुभव कर रही है, तो ये बड़ी बातें बरसाती कोटपर पड़ी पानीकी बूँदोंकी तरह नीचे खिसक जाती हैं और उपदेशक शिक्षाशास्त्रियोंके लिये खीझको छोड़कर कुछ नहीं बचता। आज शिक्षा चरित्रनिर्माण करनेवाली नहीं रह गयी है!

थोड़ेमें हम आस्थाहीन जीवनके दुष्परिणामोंको भुगत रहे हैं और प्रारम्भिक तथा माध्यमिक स्तरोंतककी शिक्षा—जिसमें जीवनकी आस्थाका निर्माण होता है, चरित्र-निर्माणका दृढ़ आधार प्राप्त हो सकता है, इससे शून्य हैं। नैतिक अथवा धार्मिक शिक्षाका अभाव शिक्षाका रिक्तांश बन गया है।

शिक्षामें धर्मका तिरस्कार कर भौतिक दृष्टिसे उन्नतिशील दो-एक देशोंका नाम गिनानेवाले सचाईको अपने ढंगसे झुठलाते हैं। रूसमें बोल्सेविक क्रान्तिके बाद स्टालिनका पूरा युग लेनिन तथा स्टालिनके दैवत्व-विधानका उपक्रम है। शिक्षाके क्षेत्रमें वहाँ इसे बलपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया। आज चीनमें क्रान्तिरक्षकोंकी सेना और कुछ नहीं कर रही है। इसलिये चीनियोंकी आस्था, विश्वास और प्रेरणाके लिये यह आवश्यक हो गया है कि वे माओके दिव्यत्वमें

विश्वास करें, उसकी शिक्षाओंको वही आदर दें जो हम धर्मग्रन्थोंको देते हैं। ये देश अपना कितना समय और कितनी शक्ति इन बातोंपर खर्च करते हैं और शिक्षामें इनका क्या स्थान होता है यह किसीसे छिपा नहीं है। जब धर्म जीवनके लिये अनिवार्य है तो उसके अभावमें एक अपेक्षाकृत घटिया वस्तु उसका स्थान ले ले, यह जरूरी हो जाता है। 'वाद' विशेष 'धर्म'का स्थान ग्रहण कर ले, यह नयी बात नहीं है।

समाजवादी विचारकोंसे प्रस्थानभेद रखनेवाले मनोविश्लेषक युग आदिका निष्कर्ष भी यही है कि धार्मिक आस्था जीवनके लिये आवश्यक है और उसके अभावमें मानस-ग्रन्थियों तथा विषादरोगसे कुपरिणाम सामने आते हैं।

भारत-जैसे देशमें आस्था और विश्वासके सहज सुलभ-साधन धर्मका शिक्षामें तिरस्कार एक अवाञ्छनीय विचित्र-सी, प्राणोंको खींचकर बाहर निकाल देनेकी-सी घटना बनकर सामने आयी। शिक्षाके वर्तमान ढाँचेका प्रारम्भ निहित-स्वार्थ विदेशियोंके द्वारा हुआ। उन्होंने शिक्षामें अपने स्वार्थको ही धर्म बना दिया। इसका थोड़ा-बहुत विरोध भी हुआ और जागरणकालमें वैयक्तिक और स्थानीय रूपमें कुछ लोगोंने ऐसी छोटी-बड़ी, शिक्षा-संस्थाएँ भी स्थापित कीं, जिनमें शिक्षामें धर्मको थोड़ा-बहुत स्थान प्राप्त था। इधर अपने देशमें शिक्षा-बिल्ली धर्म-दूधसे ऐसी जली है कि दुबली और भूखी होनेपर भी उधर देख ही नहीं रही है। सरकारको अबतककी खोजमें दो ही चीजें नहीं मिली हैं—'वनस्पति घीके लिये रंग' और 'शिक्षाके लिये धर्म !'

जिन्होंने **'धारणाद्धर्मं इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः'** कहा था अथवा धर्मसे अभ्युदय और निःश्रेयस्की सिद्धिकी बात की थी, उनके सामने धर्म विचार-संकीर्णताकी वस्तु नहीं थी। वे पूर्वाग्रह लेकर अग्रसर नहीं हुए थे। उनकी दृष्टि व्यापक और उदार थी। फिर भी हम सभी धर्मोंकी अच्छी बातें ले सकते हैं। कुछ सुन्दर ग्रन्थोंको पाठ्यक्रमके अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। विद्यार्थियोंमें रुचि जाग्रत् की जा सकती है और अन्य ग्रन्थोंके अध्ययन-मननके लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। यत्र-तत्र विद्यालयोंमें होनेवाली प्रार्थना-सभाओंके घिसे-पिटे रूपको निश्चय ही सँवारा और सुधारा जा सकता है। यह प्रेरणा किशोर वयके बालकको सहज ही दी जा सकती है कि वह देश, समाज और मानवताके संदर्भमें अपने उत्तरदायित्वको समझे और तदनुकूल आचरण करे।

यह कोई बड़ी बात नहीं है, कुछ असाधारण भी नहीं है। आवश्यकता इसकी है कि शिक्षामें धर्मको स्थान दिया जाय, नैतिकताका प्रवेश हो। पूर्वाग्रहका परित्याग किया जाय। इसके बिना शिक्षा कभी चरित्र-निर्माणमें सहायक हो सकेगी—इसमें संदेह है !

प्रसन्न-हृदय प्रसन्न-मुख प्रभुके दास

ईश्वर नित्य प्रसन्न-वदन हैं, स्थित निज नित्य स्वरूपानन्द ।
प्रेमीजन भी तद्वत् नित करते आस्वादन रस-आनन्द ॥
प्रभुका हर मङ्गल-विधान उनको करता अनुपम सुखदान ।
हँसते रहते नित्य इसीसे वे प्रभुविश्वासी मतिमान ॥
मनका यह प्रसाद नित रखता उनके मन-शरीरको स्वस्थ ।
प्रभु—आनन्दरूपमें स्थित रहते, होते न कभी प्रकृतिस्थ ॥
निर्मल यह प्रसन्नता करती नित्य विशुद्ध ज्ञान-विस्तार ।
फैलाते प्रसन्नता अविरत फिर वे दूर-दूर अविकार ॥
करते प्रभु उनके अति निर्मल सुखमय मनमें नित्य निवास ।
अतः छिटकता रहता उनके जीवनसे नव-नव उल्लास ॥
जिधर निकल जाते वे प्रभुके सदानन्दमय हँसमुख दास ।
हो जाता आनन्दज्योतिका वहाँ विमल तत्काल विकास ॥

मानस-अङ्कित निषाद और केवट

(लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

निषाद जातिका वर्णन सभी स्मृतियोंमें प्राप्त होता है (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ९१; वसिष्ठस्मृति १८।६; बोधायन-स्मृति अ० ८ एवं ९, औशनससंहिता (शुक्रस्मृतिमें ३७)। मनुस्मृतिमें निषादका वर्णन वही है जो अन्य स्मृतियोंमें है । ब्राह्मण-पति एवं शूद्र-स्त्रीसे उत्पन्न संतति निषाद है (मनु १०।८)। निषादका कर्म मत्स्य मारना है (मनु १०।४८)। अन्य स्मृतिकारोंने कैवर्त्तकी व्याख्या नहीं की है । मनुस्मृतिमें 'मार्गव' या 'दास'को कैवर्त्त बताया गया है । शूद्र जब वैश्य-स्त्रीसे संतान उत्पन्न करता है तो वह 'आयोगव' है । निषाद पुरुष और आयोगव स्त्रीसे उत्पन्न संतान 'मार्गव' या 'दास' कहलायेगी, जिसे आर्यावर्तवासी 'कैवर्त्त' कहते हैं (मनु १० । ३४) । कैवर्त्तोंका कार्य नाव चलाना है । ये निषादसे ही उत्पन्न हैं । निषाद भी नाव चलाते थे । वाल्मीकिरामायणमें निषाद ही राम एवं भरतको नावोंद्वारा गङ्गापार करते हैं । कैवर्त्तका ही तद्भवरूप 'केवट' माना गया है । मानसमें निषादराज गुह और गङ्गापार उतारनेवाले केवटका वर्णन मिलता है । कुछ विद्वानोंने इन दोनोंको एकमें मिलाकर निषादराज एवं केवटको एक ही माना है । डा० भोलानाथ तिवारीद्वारा सम्पादित तुलसी-शब्दसागर (पृ० २७०) में निषादकी व्याख्या की गयी है । निषाद—चाण्डाल जो ब्राह्मण पति और शूद्रा पत्नीके गर्भसे पैदा हो, मल्लाह, माझी, वह निषाद जिसने रामको पार उतारा था । हिंदी कथाकोषमें भी ऐसी ही व्याख्या दी गयी है । वहाँ गुहकी व्याख्या करते कहा गया है—प्रसिद्ध रामभक्त निषाद-राज गुह जो शृंगवेरपुरके स्वामी थे । वनवासके समय इन्होंने राम, सीता और लक्ष्मणको गङ्गापार कराया था । नावपर बिठानेसे पूर्व इन्होंने रामके चरण धोये थे (पृष्ठ ६०)।

गोस्वामीजीके मानसमें निषादराज एवं गङ्गापार उतारने-वाले केवट—ये दो भिन्न व्यक्ति हैं, एक नहीं हैं । केवट, राम-लक्ष्मण और सीताके साथ निषादराज गुहको भी नावमें बिठाकर गङ्गाके पार उतारता है । मानसकारका कथन है—

उतरि ठाढ भए सुरसरि रेता । सीय रामु गुह लखन समेता ॥

रामकी इच्छा एवं संकेत पाकर सीताने केवटको अपने हाथसे उतारकर मणि-मुद्रिका दी । केवटने नहीं ली । तब राम उस केवटको विमल भक्तिका वर देकर विदा कर देते हैं—

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय नहिं कछु केवट लेइ ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥

केवट तो विदा हो गया किंतु निषादराज गुह साथ है, वह विदा नहीं हुआ है । सीताने गङ्गा मैयासे बड़ी प्रार्थना की । गङ्गाजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया । गुह भी साथ खड़ा है । गङ्गाजीके इस आशीर्वादने कि तू प्राणनाथ एवं देवरसहित सकुशल अयोध्या लौटेगी, सीताको बड़ी प्रसन्नता दी । तुरंत रामने निषाद गुहसे कहा कि तुम अब अपने घर जाओ । गुहको इन वचनोंसे बड़ा मर्मान्तक दुःख हुआ—

गंग बचन सुनि मंगल मूला । मुदित सीय सुरसरि अनुकूला ॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू । सुनत सूख मुख भा उर दाहू ॥

गुहने रामसे कहा—

नाथ साथ रहि पंथु देखाई । करि दिन चारि चरन सेवकाई ॥
जेहिं बन जाइ रहब रघुराई । परनकुटी मैं करबि सुहाई ॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई । सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई ॥

रामने निषादका स्वाभाविक प्रेम देख उसे साथ ले लिया—

सहज सनेह राम लखि तासू । संग लीन्ह गुह हृदयँ हुलासू ॥

इस वर्णनमें भ्रमके लिये तनिक भी स्थान नहीं है । केवटको रामने पहिले ही विदा कर दिया था । अब निषाद-को साथ ले लिया । जिन आलोचकोंने निषाद और केवटको एक माना है, उनके भ्रमका कारण तुलसीके कुछ वचन हैं । बरवै रामायणमें तुलसीका कथन है—

सजल कठौता कर गहि कहत निषाद ।
चढ़हु नाथ पग धोइ करहु जनि बाद ॥२५॥

यहाँ निषाद शब्द प्रयुक्त है जब कि मानसमें 'केवट'ने रामके पग धोकर उन्हें नावपर चढ़ाया । गोस्वामीजीने 'केवट' और 'निषाद' शब्द पर्याय माने हैं । उनके मतमें केवटको निषाद कहा जा सकता है और निषादको केवट ।

इसका उत्तम उदाहरण कवितावलीका गङ्गापार प्रसंग है । मानसके समान यहाँ भी केवट उपस्थित है । जब राम उससे कहते हैं कि हमें पार उतार दो तो वह मानसवाली उक्ति देता है । जिसपर प्रभु राम सीताकी ओर देखकर हँस पड़ते हैं । गोस्वामीजी कहते हैं—

रावरे दोष न पाँयनको, पग धूरिको भूरि प्रभाव महा है।
पाहन तें बन बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥
पावन पाँय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवटके वर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥
(कवितावली अयोध्याकाण्ड ७)

यहाँ 'केवट' शब्दका प्रयोग है। इसके आगेके छन्दमें इसी व्यक्तिको 'निषाद' भी कहा गया है—

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे
केवट की जाति कछु बेद ना पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो या ही लागि राजा जू !
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं॥
गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी
प्रभु सों निषाद है कै बाद न बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरे सौं साँची कहौं
बिना पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौं॥

इससे सिद्ध है कि गोस्वामीजीने 'केवट'को निषाद माना है। उधर निषादको भी 'केवट' संज्ञासे अभिहित किया गया है। सुमन्त अयोध्यामें लौटकर राजा दशरथको ब्योरा दे रहा है। वह कहता है—

प्रथम बासु तमसा भयउ दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपानु करि, सिय समेत दोउ बीर॥

केवट कीन्हि बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई॥

रात्रि सिंगरौर (शृंगवेरपुर) में गँवायी। वहाँ केवटने बड़ी सेवा की। यहाँ निषादराज गुहको ही केवट कहा गया है।

भरत चित्रकूट चले। इस प्रसंगमें भी निषादको केवट माना गया है। भरतके पास निषादराज आया——

राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

निषादको साथ लेकर भरत चले। उसकी सहायतासे भरतने ससैन्य गङ्गाको नावोंमें पार किया। भरद्वाज-आश्रममें होकर राम यमुनापर आये। इस सरिताको भी रामसखा निषादकी सहायतासे भरतने सुविधासे पार किया। यमुना पार कर उस पर्वतके पास आये जिसके दूसरी ओर राम रहते थे। गोस्वामीजी कहते हैं—

राम सखा तेहि समय देखावा। सैल सिरोमनि सहज सुहावा॥
जासु समीप सरित पय तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा॥

पर्वतके पास सब सेना एवं माताओंको छोड़कर भरतजी शत्रुघ्न एवं निषादराज गुहके साथ राम-कुटीकी ओर चले। इसी बीच निषादराज गुह दौड़कर पर्वतके ऊँचे स्थानपर चढ़कर भरतसे ऊँचे स्वरमें कहता है—वह रहा प्रभु रामका स्थान। गोस्वामीजी यहाँ निषादराजको 'केवट' शब्दसे अभिहित करते हैं—

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥

वह भरतसे राम-स्थलकी सूचना देते हुए कहता है—
नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा॥
ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परन कुटी जहँ छाईं॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाए॥
बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥

जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सिय रामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥

यहाँ एक शंका स्वभावतः उत्पन्न होती है। मानसमें रामने यमुना नदी पारकर तापस-प्रसंगके पश्चात् विदा कर दिया था——

तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइ कीन्ह॥

निषादराज फिर कैसे यह कहता है कि इन वृक्षोंमेंसे कुछको सीताने लगाया है, कुछको लक्ष्मणने। यही नहीं, वह निश्चितरूपसे यह भी भरतको बताता है कि वेदिकाको सीताने अपने हाथसे बनाया है। इसका समाधान यही है कि निषादराज लौट अवश्य गया किंतु वह प्रियसखा रामकी खोज-खबर अवश्य लेता रहता था। वह निषादोंका राजा था, वन एवं पर्वत प्रदेशमें दूर-दूर तक वह तथा उसके आदमी जाते थे। शिकार करने भी वह तथा अन्य निषाद जाते थे। चित्रकूटके कोल-किरात-भीलोंको भी गोस्वामीजीने निषाद माना है। वे अयोध्यावासियोंके लिये कन्द-मूल-फल लाते हैं। अयोध्यावासी मूल्य देते हैं तो निषेध करते हुए ये कहते हैं—

कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥

हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा । जस मरु धरनि देवधुनि धारा ॥
राम कृपालु निषाद नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा ॥

अतः निषादराजका प्रभाव-विस्तार दूरतक होना ही चाहिये था और निषादराज रामकी सूचनाएँ इनसे एवं अपने आदमियोंसे पा जाता था। गोस्वामीजीने इसका उल्लेख तो नहीं किया है। यह भी सम्भव है कि निषादराज स्वयं एकाध बार आया हो। न आनेपर भी यह तो सम्भावित एवं स्वाभाविक है ही कि वह अपने प्रिय सखाकी सूचना पाता रहा हो। फलतः वह यह कहता है कि इन वृक्षोंको सीता और लक्ष्मणने लगाया है और वेदिका सीताद्वारा निर्मित है।

आगे भी गोस्वामीजीने निषादराजको केवट कहा है। भरत, शत्रुघ्न एवं निषादराज रामकी कुटीके पास पहुँचे। राम पहले भरतसे मिले और इसके पश्चात् शत्रुघ्न एवं निषादराजसे जिसे गोस्वामीजी पुनः केवट स्वीकार करते हुए कहते हैं—

मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि केवट भेंटेउ राम।

अब लक्ष्मणजी मिले—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥

राम, लक्ष्मण, भरत, सीता एवं शत्रुघ्न सब मिले। उस समय सब प्रेमविह्वल हो मूकवत् खड़े रह गये—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा ॥

निषाद ही तब धैर्य धर रामसे कहता है कि भरतजीके साथ अन्य लोग भी हैं—माताएँ गुरुजी एवं अयोध्यावासी। यहाँ भी गोस्वामीजी निषादको केवट ही कहते हैं—

तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि ॥

नाथ साथ मुनि नाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग ॥

चित्रकूटमें मुनिवर वसिष्ठ और निषादराजकी भेंटका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी इस शंकाका समाधान करते हुए निर्विवादरूपसे रामसखा निषादराज गुहको केवट बतलाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

यहाँ रामसखाके लिये 'केवट' शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीके मतको स्पष्ट घोषित कर देता है।

एक प्रश्न यहाँ भी उठता है। शृंगवेरपुरके निकट वसिष्ठजीकी भेंट निषादराजसे पहले हो चुकी है। गोस्वामीजीने इस भेंटका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—

देखि दूर तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनिसहि दंड प्रनामू ॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥

चित्रकूटपर इस प्रसंगका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

गोस्वामीजी इस भेंटपर अपना मत व्यक्त करते हुए रामभजनकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ॥

जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥

शृंगवेरपुरके पास जब निषादराजने वसिष्ठको प्रणाम किया, तब मुनिराजने केवल आशीर्वाद दिया, उसे छुआ नहीं, हृदयसे लगानेकी बात अलग रही। सुमन्तने निषादराजका विवरण दिया था, उसीके अनुसार वसिष्ठने उसके प्रणामके विनिमयमें केवल आशीर्वाद दिया और भरतसे कहा कि यह वही रामका सखा है। गोस्वामीजीने पुनः निषादराजसे प्रणाम कराया। अबतक मुनिराज निषादके रामके प्रति स्नेह-भावको—भक्तिको जान चुके थे। अब उसे प्रणाम करते देखकर उन्होंने बरबस उसे पृथ्वीपरसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। गोस्वामीजी इससे रामभक्तिकी प्रभुता प्रकट करते हैं। इसीके लिये उन्होंने पुनः इस भेंटका आयोजन किया था। स्वभावतः यह कहा जा सकता है कि वहीं गोस्वामीजी इस प्रसंगका चित्रकूटके समान वर्णन करके अपना मत अभिव्यक्त कर सकते थे। किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे गोस्वामीजी निम्न कारण सोचे होंगे—

(१) निषादको उन्होंने अत्यन्त नीच और हीन माना

है। दूसरी बार प्रणाम करनेके बहाने वे बताना चाहते हैं कि जब भी श्रेष्ठ ऋषि, संत, उत्तम ब्राह्मण मिलें—प्रणाम करना चाहिये। इस मर्यादाके स्पष्टीकरणके लिये ही इस प्रसंगकी पुनः योजना की गयी है।

(२) चित्रकूटमें कोल, भील, शक इत्यादिके साथ-साथ बहुत-से मुनि उपस्थित हैं। निषादके प्रणाम और मुनिराजके गाढालिङ्गनद्वारा वे इन दोनोंको मर्यादा देते हैं। वनवासियोंसे कहते हैं—निषादके समान श्रद्धापूर्वक दण्डवत्-प्रणाम करो। मुनियोंसे कहते हैं—इनको अपनाओ, हृदयसे लगाओ।

(३) चित्रकूटपर समस्त व्यक्ति वसिष्ठको प्रणाम कर रहे थे। तब निषादराज अकेला खड़ा रह जाता। अतः उसने पुनः वसिष्ठको प्रणाम किया और वसिष्ठने महानता प्रदर्शित की।

(४) चित्रकूट रामभक्तिका प्रतीक है। विनयपत्रिकामें वे कहते हैं—

तुलसी जो रामपद चाहिय प्रेम। सेइअ गिरि करि निरुपाधि नेम॥

(२३)

यह चित्रकूट कैसा है ?

भव घोर घामहर सुखद छाँह। थप्यो थिर प्रभाव जानकी नाह।
साधक सुपथिक बड़े भाग पाइ। पावत अनेक अभिमत अघाइ॥

(२३)

कामदमनि कामना कलपतरु, सो जुग-जुग जागत जगतीतरु।

यहाँकी भूमि रामपद-अंकित है। देवता भी यहाँ आनेकी कामना करते रहते हैं। रामभक्ति-प्राप्तिका यह एक साधन है। अतः चित्रकूटपर ही वे अपना अभिमत व्यक्त करते हैं कि सीतापतिके प्रभावका प्रकट उदाहरण है, निषाद और वसिष्ठकी भेंट।

सब सबका, सब सब—

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

इस जगत्में क्या मनुष्य क्या मनुष्येतर सभी प्राणियोंके जीवनका लक्ष्य एकमात्र 'सुख' है। सभी दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हैं और चाहते हैं ऐसा सुख जो सबसे बढ़कर हो, सब तरह पूर्ण हो और जिसमें कहीं कभी कोई कमी न आये। अपने-अपने ढंगसे प्रत्येक प्राणी इसी लक्ष्यकी साधनामें जी-जानसे जुटा है; नित्य-निरन्तर नाना प्रकारकी चेष्टाओंमें लगा है और यह लक्ष्य-साधना गतिमान् ही रहेगी, यह चेष्टा-चक्र चलता ही रहेगा जबतक कि लक्ष्य-पूर्ति न हो जाय।

सुख-दुःखके स्वरूपपर जब विचार करते हैं तो इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि अनुकूल-वेदना सुख और प्रतिकूल-वेदना दुःख है। अब वेदना क्या ? इन्द्रियोंके स्पर्शद्वारा अथवा स्वयं कल्पनाद्वारा मनको जो विषयानुभूति होती है वह वेदना है। इसे ही भोग भी कह सकते हैं। यह वेदना, यह भोग, सदैव सम्पूर्ण तथा अनुकूल हो, प्रतिकूल एवं असम्पूर्ण तनिक भी कदापि न हो, तो कहा जा सकता है कि लक्ष्य प्राप्त हो गया। पर अनुभवमें आता है कि ऐसा होता नहीं। मिली-जुली अनुभूतियाँ होती रहती हैं। क्षणमें सुखानुभूति होती है, क्षणमें दुःखानुभूति। किसी पदार्थ, विषय, परिस्थिति अथवा भोगके सम्बन्धमें भी निश्चितरूपसे यह कहना अत्यन्त कठिन असम्भवप्राय ही है कि वह सदैव सम्पूर्णतया सुखकर ही होगा अथवा सदैव नितान्त दुःखकर ही। कब कौन सुखकर होगा, कौन दुःखकर—कुछ भी कहते नहीं बनता। फलतः यों ही सुख-दुःखके हिंडोलेमें ऊपर-तले होते, एक दिन जीवन समाप्त हो जाता है और लक्ष्य-प्राप्ति धरीकी धरी रह जाती है।

तो ऐसी परिस्थितिमें किया क्या जाय ? प्रश्न अब हमारे सम्मुख यह आकर उपस्थित होता है। उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि भोगकी निरवच्छिन्न अनुकूलता यदि प्राप्त कर ली जाय तो हमारा काम बन सकता है। तनिक गहराईसे विचार करें तो पता चलता है कि भोगकी निरवच्छिन्न अनुकूलतामें मुख्य बाधा एकमात्र भोगका विच्छिन्न भोग है। अधूरे ढंगसे भोगा हुआ भोग अधूरा फल उत्पन्न नहीं करेगा तो क्या करेगा ? भोगको यदि सम्यक् प्रकारसे भोगना हमको आ जाय, तो लक्ष्य-प्राप्तिकी हमारी समस्या पर्याप्त सरल हो जाय।

सम्यक् प्रकारसे भोग भोगनेमें सबसे बड़ी रुकावट पड़ती है 'मैं' और [illegible] की मान्यताके

कारण । अपने-पराये और मेरे-तेरेकी भावना सभी वस्तुओं, परिस्थितियों, भावनाओं एवं विचारोंको विकृत कर डालती है; उनमें अधूरापन ला देती है । अधूरेपनसे पूर्णत्व-प्राप्तिकी आशा तो वैसी ही है, जैसे बाँझ स्त्रीसे पुत्र-प्राप्तिकी आशा करना । 'मैं-मेरे'पनकी भावनसे मुक्त हुआ जाय तथा 'सब सब है, सब सबका है' इस तत्त्वको हृदयङ्गम कर लिया जाय, तो लक्ष्य सहज सिद्ध हो सकता है ।

बात यह है कि अपने-परायेकी भावनासे या तो मनुष्यमें अभिमान जागता है अथवा दीनता उत्पन्न होती है । किसी वस्तुको केवल अपनी समझकर भोगनेसे अभिमान जागता है; किसीको निपट दूसरेकी समझकर भोगनेसे दीनता आती है । अपनेके प्रति आसक्ति, परायेके प्रति विरक्ति तो प्रत्यक्ष है ही । ऐसी अवस्थामें जब कि हममें आसक्ति-विरक्ति उथल-पुथल मचा रही हो, अभिमान और दीनता हमें ऊपर-नीचे कर रहे हों । परिणामतः हम ज्यों-के-त्यों न रह गये हों; तब किसी भी वस्तुका ज्यों-का-त्यों भोग—सम्यक् भोग कैसे बन सकता है और उसके बने बिना नित्य-निरन्तर सर्वदा अनुकूलताके इष्ट प्रवाहकी अनुभूति हमें कैसे हो सकती है ?

'सब सबका है' इस तत्त्वके हृदयङ्गम हो जानेपर—अपनेमें छिद-भिद जानेपर, जीवनमें उतर आनेपर बात ही कुछ और हो जाती है । उस अवस्थामें किसी भी वस्तुके भोगते हुए हममें न अभिमान जागता है, न दीनता उत्पन्न होती है । बात यह है कि फिर, अपनी मानी हुई वस्तुको भोगते हुए हम जानते हैं कि यह हमारी ही नहीं, औरोंकी भी है और इतना जान लेनेपर फिर अभिमानके लिये गुंजाइश कहाँ बचती है । ऐसे ही अन्यकी मानी हुई वस्तुका उपभोग करनेपर हम यह जानकर कि यह हमारी भी है, दीनताके आक्रमणसे बचे रहते हैं । अपनी चीज़ दूसरेकी भी है—यह जानकर इसमें आसक्त नहीं होते और दूसरेकी चीज अपनी भी है, यह समझकर उससे विरक्त नहीं होते । इस तरह अभिमान और दीनता, आसक्ति और विरक्ति—राग और द्वेष दोनोंसे बचे रहकर हम ज्यों-के-त्यों रहते हुए सहज लक्ष्यकी ओर बढ़े चले जाते हैं ।

''सब सब है'—का तत्त्वज्ञान भोगके अधूरेपनको खा जाता है, प्रत्येक भोगको सम्यक्त्व प्रदान करता है । जो जिसमें अनभीष्ट दीखता है, हम इस तत्त्वके सहारे उसे आँखसे ओझल कर उससे परे पहुँचकर जो चाहते हैं वह उसमें देख लेते हैं, उसे ही देखते हैं और इस तरह सब सब कुछ हमारे लिये सहज नित्य-अनुकूलताका ही रूप धारण कर लेता है । प्रतिकूलताका नाम शेष हो जाता है और हम सहज अपने लक्ष्यपर पहुँच जाते हैं ।

अब प्रश्न रह जाता है यह कि अपने-परायेकी भावना मिटे कैसे ? सब सबका है—सब सब है—यह तत्त्व कैसे मनमें उतरे, जीवनमें रचे-पचे । देखनेमें काम बहुत कठिन मालूम होता है । अपने-परायेकी भावना हममें बहुत गहरे जाकर बद्धमूल हो गयी है । संसारके समस्त व्यापार, जिनमें क्षण-क्षण हमारा सम्बन्ध पड़ता रहता है । इसीपर आश्रित हैं, इसीपर अवलम्बित हैं । ऐसी सूरतमें क्या हो सकता है ? बात सच्ची है; पर इससे बढ़कर सच्ची बात यह है कि यह कठिनाई केवल देखनेकी है, वास्तविक नहीं और इसलिये काम अत्यन्त सरल है । बात समझमें बैठ जानेपर मनमें इसे मिटानेकी ठान ठन जाय, तो इसका पता भी नहीं चलेगा कि यह गधेके सिरसे सींगकी तरह कहाँ कैसे गायब हो गयी । वास्तविकता यह है कि यह भावना मान्यता मात्र है । असलमें इसका अस्तित्व नहीं है । जिस वस्तुका अस्तित्व हो उसे तो मिटाया ही कैसे जा सकता है ? किंतु जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसे मिटाना क्या कठिन है ? वह तो मिटे हुएको ही मिटाना है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जिसका अस्तित्व नहीं, उसे मिटानेकी बात ही कहाँ पैदा होती है । प्रश्न बिल्कुल ठीक है । मिटेको मिटानेका मेल न सत्से खाता है, न असत्से । ऐसा मिटाना तो वहीं बनता है, जहाँ असत् सत्-सा भास रहा हो । वही बात यहाँ है । अपने-परायेकी भावना एक मान्यता है, सत्य नहीं; भ्रमसे सत्यवत् प्रतीत हो रही है । भ्रमके भूतको भगाना ही वस्तुतः मिटाना है और यह करते ही काम हुआ रक्खा है ।

भ्रमका भूत भागे कैसे ? डरें-घबरायें नहीं; न जी छोड़ें । तनिक विचारशील बनते ही यह चुटकी बजाते भाग खड़ा होता है । किसी भी वस्तुको ले लीजिये, जिसे आप अपनी या परायी समझते हैं और फिर विचारिये कि क्या वह केवल आपकी या केवल दूसरेकी ही है । जिसे आप अपनी कहते हैं । क्या उसपर किसी दूसरेका कोई दावा नहीं है ? निष्पक्षतासे विचार करनेपर आप इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि वह केवल आपकी अपनी नहीं है । आपके साथ अन्य अनेक लोग भी उसपर अपना दावा रखते हैं । उदाहरणके रूपमें

आपकी पत्नी अपनी पत्नी होनेके साथ-साथ किसीकी माता, किसीकी पुत्री, किसीकी भगिनी भी है। और भी इसी प्रकारके अन्य अनेक सम्बन्ध अनेक लोगोंसे रखती है, यह प्रत्यक्ष ही है। तत्त्वदृष्टिसे किसी चीजपर आपका स्वत्व दो प्रकारसे माना जा सकता है। एक यह कि आपने केवल अपने परिश्रमके द्वारा उसे उपार्जित किया हो, अपना बनाया हो; दूसरे, किसीने बिना किसी शर्तके आपको उसे प्रदान किया हो। अब विचार करनेपर आप अनुभव करेंगे कि किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें आप निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि उसको यह रूप केवल आपके परिश्रमद्वारा ही प्राप्त हुआ है। रही किसीके द्वारा प्रदान किये जानेकी बात। सो इस बारेमें यह बात है कि प्रदान तो कोई वही वस्तु करेगा जो केवल उसीकी हो, केवल उसकी वह आयी कहाँसे? केवल एकके परिश्रमसे तो कोई रूप-विशेष सामने आता नहीं। फिर उसीकी कोई वस्तु कैसे हो सकती है? इस तरह यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी वस्तुको केवल अपनी कहना नहीं बनता। एक और कसौटी भी इसकी जाँचके लिये है। केवल अपनी वही वस्तु होती है जो अपनेसे बिलग न हो। सब कुछको इस कसौटीपर कसें और आप यह देखकर विस्मित रह जायँगे कि केवल अपने-आपको छोड़कर केवल आपका कुछ भी तो नहीं है। और तो और, आपका शरीर, मन, बुद्धि आदि भी नहीं। अब लीजिये—उन वस्तुओंको, जिन्हें आप परायी करके जानते हैं। क्या सचमुच वे निपट परायी हैं? क्या आपका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है? यदि सम्बन्ध नहीं है। तो आपको उनका ज्ञान कैसे हो रहा है। आप उनके सम्बन्धमें बात कैसे कर रहे हैं? अधिक स्पष्टीकरण इस सम्बन्धमें व्यर्थ ही है। आपको उनका ज्ञान होना ही इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आपका भी उनमें कुछ अपनत्व है।

'सब सबका है' के सम्बन्धमें एक और विशेष बात ध्यानमें रखनेकी है। इसकी क्रियात्मक साधना सदैव अपने-आपसे आरम्भ होती है। अपना सब सबका बनाकर हम सबके सबमें यथार्थ अपनत्वकी अनुभूति कर सकते हैं; उन्हें उपयोगमें ले सकते हैं। ऐसा न करनेपर साधना ढोंग और ठगी होकर रह जायगी, अर्थका अनर्थ हो जायगा और लक्ष्य हमसे कोसों दूर चला जायगा।

'सब सबका है'—इसका काफी विवेचन हो चुका। अब तनिक 'सब सब हैं'—इसे और समझ लें। जरा गहरे उतर कर देखिये। जो-जो दीखता है, क्या वह केवल वही है? यदि वह वही होता, तो सबको नितान्त वही दीखता; पर ऐसा तो होता नहीं। कहीं कुछ भी किन्हीं दोको एक-सा प्रतीत नहीं होता। एक ही वस्तु किसीके लिये कुछ है, किसीके लिये कुछ। क्या निष्कर्ष निकलता है इससे? यही न कि वह वस्तु दृष्टि-भेदसे सब है। जो कुछ आपको दीख रही है, केवल वही नहीं है। इसी तरह आप भी वही नहीं हैं, जो किसी एकको दीख रहे हैं या स्वयंको स्वयं समझ रहे हैं। आप भी दृष्टि-भेदसे सब हैं। निष्पक्ष बुद्धिसे विचार करनेपर सहज सबमें सब प्रतीत होने लगता है। सब सबको सब ही दीखने लगते हैं।

'सब सब है, सब सबका है' यह तत्त्व समझमें आनेभरकी देर है। जहाँ समझमें आया कि बेड़ा पार है। समझमें आनेपर इसे हृदयमें उतरते, जीवनमें रचते-पचते, आपके अपने-आपमें छिदते-भिदते देर नहीं लगती। बिना एक पलकी साँसत भुगते-भुगताये सहज आपमें रम जाता है यह और लक्ष्यकी प्राप्ति करा देता है। बात यह है कि सत् सत्में क्यों न रमे? आप भी तो सत् ही हैं और यह रमना-रमाना भी कहने मात्रकी बात है। किसमें कौन रमे? कौन किसे प्राप्त करे? कौन किसका लक्ष्य बने? कोई कहीं दो कहाँ हैं? भ्रमभ्रममें भ्रमसे भास रहा है। इस भासका अभाव होते ही सब आप-ही-आपका चमत्कार है, सदा, सर्वत्र, समग्र सुख-रूप मेरे आत्म-स्वरूप! बस, और कुछ है न बात।

अभिमानादि छोड़कर भजन करो

अभिमानं सुरापानं गौरवं रौरवं समम्।
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्॥

अभिमान मद्यपानके समान है, गौरव (बड़प्पन) रौरव नरकके तुल्य है और प्रतिष्ठा (मान-बड़ाई) सूकर-विष्ठाके सदृश है; अतः इन तीनोंको त्यागकर हरिका भजन करे।

पुनर्जन्म—पूर्वजन्मकी माताका विवाह रचाया गया

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री आचार्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

(श्रीमती बुन्दनकुँवरि नामक स्त्रीको अपनी मृत्युका आभास मिला और उसी समय उनकी इच्छा हुई कि गाँवकी अत्यन्त परिचिता ब्राह्मण-लड़की रामललीको देख लूँ। रामललीका विवाह हो चुका था और उस समय वह अपने पिताके ही घरमें थी। श्रीमती बुन्दनकुँवरिको यह पता था। रामललीको देखनेके लिये उनकी इच्छा होते ही रामललीको बुलाया गया। रामलली उस समय गर्भवती थी और आसन्नप्रसवा होनेके कारण चलने-फिरनेमें असमर्थ थी। रामललीकी माता, ठकुराइन बुन्दनकुँवरिके पास आयीं और बोलीं—'ठकुराइनजी! रामलली इस समय यहाँ आनेमें बिल्कुल असमर्थ है। उससे क्या काम है?' ठकुराइन बुन्दनकुँवरिने कहा—'यदि वह नहीं आ सकती तो मैं ही उसके पास पहुँचूँगी' और इतना कहनेके बाद बुन्दनकुँवरि कुछ बोलनेमें असमर्थ हो गयी और थोड़ी ही देरमें उसने पार्थिव शरीरको छोड़ दिया। बुन्दनकुँवरि आसन्नप्रसवा रामललीकी पुत्री बनकर थोड़ी देरमें उसी गाँवमें पैदा हुई। उस कन्याने अपना होश सँभालते ही अपने पूर्वजन्मकी सारी बातें बताकर बहुतोंको आश्चर्यचकित कर दिया। वह पूर्वजन्ममें गाड़ी गयी बहुत बड़ी सम्पत्तिको निकलवाकर अपने पूर्वजन्मके लड़कोंका अपार स्नेह और श्रद्धा प्राप्त करके एक विचित्र तथ्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ हुई। बादमें पूर्वजन्मके लड़कोंने उस कन्याका बहुत धन व्यय करके विवाह रचाया। विस्तृत गाथा आगे पढ़ें।—लेखक)

जिला फर्रुखाबादके सदर तहसीलमें नगलाबाग कठौरा नामक गाँव है। इस गाँवमें श्रीमाधोसिंह नामक ठाकुर प्रतिष्ठित और सम्पन्न माने जाते हैं। श्रीमती बुन्दनकुँवरि इनकी धर्मपत्नी थीं। ठाकुर साहबके छः लड़के उसी स्त्रीसे हैं। श्रीविश्वनाथसिंह पंजाब प्रान्तमें किसी स्थानपर सिविल जज हैं। श्रीवीरभानसिंह भाकड़ा-नंगल बाँधके कार्यालयमें लेखाधिकारी हैं। श्रीशिवरामसिंह फर्रुखाबाद तहसीलमें लेखपाल हैं। श्रीपुत्तूसिंह आदि तीन लड़के अन्य कार्य करते हैं।

११ फरवरी १९५४ को श्रीमती बुन्दनकुँवरि विशेष अस्वस्थ हो गयीं। अस्वस्थ हो जानेपर उनकी इच्छा हुई कि वे गाँवकी ब्राह्मणकन्या रामललीको देख लें। रामलली उसी गाँवकी कन्या थी और उसका व्याह हो चुका था। रामलली अपने ससुरालसे अपने पिताके घर आयी थी। ठकुराइन बुन्दनकुँवरिको यह पता था। रामलली आसन्नप्रसवा होनेके कारण चलने-फिरनेमें असमर्थ थी। ठकुराइनकी इच्छा जानकर रामललीकी माता बुन्दनकुँवरिके पास पहुँची और उसने रामललीके आनेकी असमर्थता बतायी। ठकुराइनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। उनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। थोड़ी देरमें उनके प्राणपखेरू उड़ गये। यह भी बताया जाता है कि ठकुराइन बुन्दनकुँवरिने मरनेके पहले कहा, 'मैं स्वयं रामललीसे मिल लूँगी।' मरनेके समय बुन्दनकुँवरिकी अवस्था सत्तावन सालकी थी। ग्यारह फरवरीको सायंकाल आठ बजे वे मरीं और उसी दिन रात्रिमें तीन बजे रामललीको एक कन्या पैदा हुई। रामललीको एक दिन पूर्वसे ही पेटमें पीड़ा होने लगी थी? श्रीमती बुन्दनकुँवरिकी मृत्युसे उनका सारा परिवार शोकसंतप्त हो गया। इतना सत्य है कि मरनेके पहले श्रीमती बुन्दनकुँवरिकी इच्छा रामललीको देखनेके लिये हुई थी और यह भी सत्य है कि उनकी ऐसी इच्छा क्यों हुई थी, यह बात किसीकी समझमें भी नहीं आयी थी। रामललीके गर्भसे जो कन्या हुई, वह १२ फरवरीको प्रातः तीन बजे हुई थी।

× × ×

रामललीकी कन्या अपने ननिहालमें हुई थी। कन्याके जन्ममें प्रायः कोई विशेष उत्सव नहीं मनाया जाता है। ठकुराइनकी मृत्युसे सारा गाँव दुखी था। इसलिये भी रामललीकी कन्याका जन्म उस ब्राह्मण-परिवारके लिये बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। श्रीमती बुन्दनकुँवरि गाँवके एक धनीमानी परिवारकी मालकिन थीं। सबको विश्वास था कि मालकिनके पास बहुत कुछ है। पुरानी विचारधाराके लोग अपनी कमाई अपने घरमें ही छिपाकर रक्खा करते थे। बुन्दनकुँवरिकी मृत्यु सहसा हो गयी थी, अतः घरके सभी सदस्योंको यह विश्वास रहा कि मालकिनके पास जो धन रहा, उसका पता लगाया जाय। ठकुराइनके पास कुछ प्राचीन समयके आभूषण आदि थे। उनकी मृत्युके समय किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि घरकी मालकिन सहसा चल

बसेगी। जबतक बुन्दनकुँवरि जीवित थीं, तबतक उनकी प्रतिष्ठा और उनका शासन अपने बच्चों और बहुओंपर पूर्णरूपसे था। किसी बहूको उनके सामने बोलनेकी हिम्मत नहीं होती थी। अतः किसी बहूको उनके द्वारा सुरक्षित किये गये धनका पता नहीं था। सबको यह विश्वास अवश्य था कि मालकिनने कहीं जमीनमें धन अवश्य सुरक्षित कर रक्खा है। आगे चलकर बात भी सत्य निकली। श्रीमती बुन्दन-कुँवरि एक धनी परिवारकी कन्या थीं और एक धनी जमींदारसे ब्याही गयी थीं। घरमें उनका आदर था। घरके ऊपर उनका आधिपत्य था। उनके पास जो कुछ आता उसे वे धरती माताको सौंपती जातीं। धरती माता उनकी धरोहर स्वीकार करती गयीं। बीचमें ठकुराइनने कभी धरती मातासे न तो उसे माँगा और न धरती माताने उसे दिया। ठकुराइन सहसा मर गयीं। घरवाले मन-ही-मन संतोष करके रह गये। कुछ प्रयत्न किया गया, किंतु सफलता नहीं मिली। अनजाने अनदेखे धरती माताको सौंपा धन किसको मिले ?

× × ×

श्रीमती बुन्दनकुँवरिके मरनेके बाद डेढ़ सालमें रामललीकी लड़कीने जबसे अपना होश सँभाला, तबसे वह अपने पूर्वजन्मके बारेमें बातचीत करने लगी। रामललीकी ससुराल फर्रुखाबादके ही सदर तहसील अमृतपुर परगनेके 'हरसिंह गहलवार' (गङ्गापार) गाँवमें है। रामलली कन्याके जन्मके बाद अपने ससुराल चली आयी थीं। रामललीकी कन्याका नाम 'पुष्पा' है। पुष्पा होश सँभालते ही अपने पूर्वजन्मके पति माधोसिंह और अपने छः बच्चोंके विषयमें यदा-कदा तोतली भाषामें कुछ कहने लगी थी। उसकी बातें सुनकर रामललीको पहले आश्चर्य हुआ। बादमें, उसे वह प्रेतबाधा मानने लगी। प्रेतबाधा माननेका प्रधान कारण यह था कि रामललीको श्रीमती बुन्दनकुँवरिके मरनेके पूर्व उनकी इच्छाका पता लग चुका था। उसे भ्रम था कि कहीं वही प्रेतके रूपमें पुष्पाको सता रही हैं। धीरे-धीरे समय बीतता गया। रामललीके पतिदेव श्रीरामचन्द्र भी पुष्पाकी बातोंको सुनकर उसे फुसलाकर डरा-धमकाकर पूर्वजन्मकी बातोंको भुलवाना चाहते थे। श्रीरामचन्द्र और रामलली—दोनों पुनर्जन्मके सिद्धान्तों और रहस्योंसे परिचित नहीं थे। उनका गाँव नगरसे बहुत दूर है। नगरसे बहुत दूर होनेके कारण ऐसे लोग वहाँ पहुँच नहीं पाते थे, जो इन सब तथ्योंसे जानकारी रखते हैं। कोई ऐसे संवाददाता भी नहीं थे, जो ऐसे समाचारोंको समाचारपत्रोंतक पहुँचाते। फलस्वरूप यह समाचार और ऐसा रहस्य संसारके लिये अबतक अनजानेमें रह गया।

ढाई सालकी अवस्थातक पुष्पाको रामलली और रामचन्द्रने समझाकर-डराकर पुनर्जन्मकी बातोंसे अज्ञात रक्खा। एक दिन रामलली पुनः अपने पिताके घर पहुँची। रामलली जानती थी कि पुष्पाको अपने पुनर्जन्मकी बातें भूल गयी होंगी। या उसपरसे प्रेतबाधा हट गयी है। एक दिन रामलली अपने छतपर पुष्पाको लेकर बैठी थी, पुष्पाने मकानकी छतसे ही श्रीमाधोसिंहके मकानकी छतको देख लिया और बोली—'वह तो मेरा मकान है। मेरे लड़कोंने मेरे मरनेके बाद मकानमें चक्की लगा ली है। मेरे छः लड़के इसी मकानमें हैं।' रामललीको पुनः अपनी बिटियाको सावधान करने और वैसी बातें न करनेकी चिन्ता हुई। रामलली अधिक डर गयी और अपनी बिटियाके साथ अपने ससुराल चली आयी। ससुराल पहुँचकर पुनः रामलली अपनी बिटियाको पुनर्जन्मका स्मरण करनेसे रोकने लगी और पति-पत्नी दोनोंने मिलकर पुष्पाको पूर्वजन्मकी बातें करनेसे रोक दिया।

× × ×

सन् १९६१ को शिवरात्रिके अवसरपर श्रीपुत्तूसिंह और श्रीशिवरामसिंह दोनों गोलागोकर्णनाथ महादेवका दर्शन करके मोटरसायकिलसे अपने गाँव आ रहे थे। बीचमें उनके मोटर-सायकिलमें कुछ खराबी आ गयी। दोनों भाइयोंने समझा कि घर जानेमें लंबा मार्ग शेष है। दोनों भाई 'हरसिंहपुर गहलवार' पहुँचे और गाँवके रिश्तेदार श्रीराम-चन्द्रका मकान एक लड़कीसे पूछने लगे। वह लड़की श्रीरामचन्द्रकी ही थी। वह मोटर-सायकिलकी आवाज सुनकर घरसे बाहर आ गयी थी। श्रीपुत्तूसिंहने उसीसे श्रीरामचन्द्रका घर पूछा। श्रीपुत्तूसिंहको देखते ही उस बालिकाने कहा—'पुत्तू ! तुम कहाँसे आ गये ?' उस बालिकाके उस प्रश्नपर श्रीपुत्तूसिंहको महान् आश्चर्य हुआ और वे बोले—'तुम मुझको कैसे जानती हो ?' बालिका बिना कुछ कहे-सुने घरमें चली गयी और अपनी मातासे बोली, 'माँ ! मेरे दो लड़के आये हैं।' रामलली उसकी बात सुनकर घरसे बाहर चली आयी, रामललीके साथ पुष्पा भी थी। रामलली अपने दरवाजेपर अपने गाँवके दो ठाकुरोंको देखकर उनसे कुशल-मङ्गल पूछने लगी ! पुष्पाने पुत्तूसिंहका प्रेमसे हाथ चूमना शुरू किया। पुष्पा प्रेम-मुग्धा हो गयी थी। पुत्तूसिंहसे

पुष्पाने कहा—'तुमलोग मुझे नहीं पहचानते, मैं तुम्हारी माता हूँ ।' पुत्तूसिंहके प्रमाण माँगनेपर पुष्पाने शिवरामसिंहसे कहा—'शिवराम ! तुम भी नहीं पहचानते, तुम्हें कानपुरमें गोली लगी थी ।' शिवरामने परीक्षाके लिये पूछा—'कहाँ गोली लगी थी ?' पुष्पाने कहा—'पाँवमें गोली लगी थी ।' पुनः पुष्पाको धोखा देनेके लिये शिवरामने अपना दायाँ पाँव सामने कर दिया और कहा 'देखो कहाँ गोली लगी है ?' पुष्पाने कहा 'बायें पाँवमें ही गोली लगी थी ?' वास्तवमें बात यही थी । सन् १९४७ में कानपुरमें शिवरामको गोली लगी थी । गोली बायें पाँवमें ही लगी थी । आज भी उनके बायें पाँवमें गोलीका चिह्न बना है । पुत्तूसिंहको पुष्पाने उनके घरकी कुछ ऐसी बातें बतायीं जो गाँवके अन्य लोग नहीं जानते थे । पुष्पाकी बातोंका प्रभाव दोनों भाइयोंपर पड़ा और दोनों भाई पुष्पाको अपने घर ले जानेको तैयार हो गये । पुष्पा भी उनके साथ जानेको तैयार हो गयी । दोनों भाइयोंने रामलली देवीको पुष्पाके साथ चलनेका आग्रह किया । रामलली अपने पतिके डरके कारण नहीं गयीं । पुष्पा पुत्तूसिंह और शिवरामसिंहके साथ चल दी । कहा जाता है कि गाँव पहुँचकर पुष्पा उन लोगोंके आगे-आगे चलने लगी । बिना बताये गलियोंको पार करके वह ठाकुर माधोसिंहके घरमें घुस गयी । घरमें जाते ही वह अपनी सब बहुओंको पहचानकर उनके नाम पुकार-पुकारकर उन्हें बुलाने लगी । घरवालोंको उस बालिकाके व्यवहारसे बहुत आश्चर्य हुआ । पुष्पाको देखनेके लिये गाँवके बहुत-से लोग आ गये । पुष्पाने सबको पहचाना । सबका नाम ले-लेकर पुकारा । गाँवके लोगोंमें एक ऐसी औरत भी आयी जो बुन्दन देवीसे कुछ कर्ज ले गयी थी । कर्ज नहीं चुकाया गया था । पुष्पाने कहा कि 'तुमने मुझसे कर्ज लिया था और चुकाया नहीं ।' कहा जाता है कि उस स्त्रीने यह तथ्य स्वीकार किया ।

गड़ा धन निकलवा दिया

इस गाथामें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह मानी गयी कि पुष्पाने बुन्दनकुँवरिके हाथों गाड़ी गयी उस सम्पत्तिको जमीनसे खुदवाकर निकलवा दिया, जिसे घरवाले नहीं निकलवा पाये थे । गाँवके लोग बताते हैं कि पुष्पाने वह कार्य करके ठाकुर माधोसिंहके परिवारवालोंकी अपार श्रद्धा और स्नेह अपनी ओर आकृष्ट कर लिया । घरवाले पुष्पाको अपने घर रखनेके लिये लालायित हो गये । अपार सम्पत्ति पाकर ही लोगोंका ध्यान उस बालिकाके प्रति नहीं आकृष्ट हुआ, प्रत्युत वे अपनी स्नेहमयी माताका उस बालिकामें दर्शन पाने लगे । सबको यह पूरा विश्वास हो गया कि श्रीमती बुन्दनकुँवरि ही पुनर्जन्म लेकर उस बालिकाके रूपमें आयी हैं । ठाकुर माधोसिंहके सभी लड़कोंने मिलकर यह निश्चय किया कि इस बालिकाके शुभ व्याह हमलोग ही सम्पन्न करायें और उसी दिनसे उस बालिकाके लिये धनका संग्रह किया जाने लगा । माधोसिंहके परिवारमें कोई दूसरी लड़की नहीं थी । अतः कुमारी पुष्पा उस परिवारके स्नेह और श्रद्धाको प्राप्त करनेमें अपने पूर्वजन्मकी बातें बतानेमें, संसारके लोगोंका ध्यान इस पुनर्जन्म-सिद्धान्तकी ओर आकृष्ट करनेमें सफल सिद्ध हुई ।

पुष्पाका विवाह रचाया गया

सन् १९६७में पुष्पाका ब्याह रचाया गया और एक पवित्र वंशवाले ब्राह्मणके साथ पुष्पाका विवाह सम्पन्न हो गया । इस विवाहमें इन ठाकुरोंने दस हजारसे ऊपर रुपये खर्च किये और कई हजार रुपये लगाकर एक निधि स्थापित करके बम्बईमें पुष्पादम्पतिके लिये एक ऐसा व्यवसाय स्थापित कर दिया, जिससे उनका अपना जीवन-यापन सुचारु रूपसे हो सके ।

पुष्पाके पुनर्जन्म-सम्बन्धी गाथासे पुनर्जन्म-सम्बन्धी सिद्धान्तके ऊपर विशेष विचार करनेका अवसर मिल रहा है । श्रीमती बुन्दनकुँवरिके मरणकाल और पुष्पाके जन्मकालमें कुछ ही घंटोंका अन्तर रहा । पुनर्जन्मके अनेक उद्धरणोंसे कई प्रकारके तथ्य प्रकट होते हैं । कई उद्धरणोंमें तो यह देखा गया कि मृत्युकाल और पुनर्जन्म लेनेवाले समयमें दो या तीन महीनेका अन्तर हो जाता है और यह भी प्रमाण मिला है कि मृत्युकाल और पुनर्जन्मकालमें कुछ ही दिनोंका अन्तर रहा । कुछ प्रसंगोंमें एक वर्षसे ऊपरका समय लग गया । इस घटनामें कुछ ही घंटोंमें पुनर्जन्म हो गया । ऐसी स्थिति 'परकाया-प्रवेश'में होती है ।

'परकाया-प्रवेश' सर्वसाधारणके लिये असम्भव है । योगी लोग योगसिद्धिके प्रभावसे कर सकते हैं अथवा यदा-कदा अतृप्त जीवात्मा परकाया-प्रवेश कर जाता है ।

यह भी इसी प्रकारकी घटना है। ऐसी ही घटना सन् १९६० में मेरठ जिलेके जाटान गाँवके उस बालकके साथ घटित हुई जो एक दिन पूर्व एक बारातमें जा रहा था और गाड़ीसे गिरकर मर गया। मरनेके बाद वह जीवात्मा सद्योमृत एक तीन वर्षीय बालकके शरीरमें प्रवेश कर गया और उस तीन वर्षके बालकने पुनः जीवित होकर 'परकाया-प्रवेश'के रहस्यको उद्घाटित किया।

इस पुनर्जन्मकी घटनामें कुछ विचित्र रहस्य प्रकट होता है। इस घटनाके जाँचका सुनहला अवसर तो निकल गया है। पुनर्जन्मकी बातें बतानेवाले बच्चे अवस्था अधिक हो जानेपर पहलेके संस्मरणोंको प्रायः भूल ही जाते हैं। संस्मरणका तात्पर्य पूर्वजन्मके संस्मरणसे है। पुष्पाको भी अब उतना स्मरण नहीं रह गया। इस समय वह अपने पतिके साथ बम्बईमें है।

प्रणति

(रचयिता—श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल')

शत-शत प्रणत-प्रणति पूषणका स्वीकारो हे अमर ज्योतिकर !
कंचन-किरण-कलाप-हार अर्पित है धारो, हे भ्रम-तम-हर !!
कलित कलानिधि-कंज तुम्हारे पगपर सुधा-सुरभि बरसाता।
सुधा-सृष्टिको वितरित करते तुम हे अगणित रूप-सुधाकर !!

× × × ×

नभ-पयोधिमें मुदिर-लहर उठ करती चारु चरण प्रक्षालित।
चरण-तरङ्गिणि मन्दाकिनि वह निकली भूपर हे पावनकर !!
कोटि-कोटि तारक-हीरक-दल रजनी जड़ती निशा-वसनमें।
तुम न किंतु धारण करते, है प्रकृति लूटती, हे पर-हित-कर !!

× × × ×

लिये धरित्री शरद-ग्रीष्म-वर्षा-वसन्तके विविध विभव—
खोज रही अर्पण करनेको तुम्हें निरन्तर हे धरणी-धर !!
सृष्टि स्थिति और नाशके कारण-करण तुम्हीं कहलाते।
सृष्टि-नाश निर्भर इंगितपर हे संसृति-कर हे इंगित-कर !!

× × × ×

निखिल भुवन शरणागत होकर कीर्ति-कलाप निरन्तर गाता।
कवि कविता-उपहार चढ़ाता, स्वीकारो हे काव्य-कलाधर !!

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईश्वर-स्मरणकी महिमा

प्रारम्भमें यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मैं कोई धर्मात्मा नहीं । इसके विपरीत पापात्मा कहना ज्यादा सुसंगत होगा; क्योंकि इस जीवनमें अबतक न जाने कितने पाप बन पड़े हैं और रोज ही जाने-अनजाने—न जाने कितने पाप होते भी रहते हैं । हर नये नवयुवककी तरह, पहले तो मैं ईश्वरमें विश्वास भी नहीं करता था, हालाँ कि नास्तिक भी नहीं था । बादमें धीरे-धीरे कुछ तो पैतृक संस्कारके कारण, कुछ संत-महात्माओंके उपदेश पढ़-सुनकर और शायद कुछ विवशताके कारण भी समय-समयपर ईश्वरकी याद आने लगी । आज भी चौबीस घंटेका अधिकांश समय फालतू बातोंमें ही बीत जाता है, पर कुछ क्षण हरिस्मरण करनेका प्रयत्न भी करता हूँ । कभी यह हरिस्मरण ऊपरी मनसे केवल दिखावा मात्र ही रह जाता है, पर कभी-कभी (स्पष्टतः किसी संकटके समय) हृदयसे, सच्चे मनसे भी ईश्वरकी पुकार उठने लगती है और यह पूर्ण विश्वासके साथ कहता हूँ कि जब-जब मैंने हृदयसे ईश्वरकी पुकार की है, तब-तब उस परम दयालुने मेरी सारी कृतघ्नताको भूलकर संकटसे मेरा उद्धार किया है—फिर भी, अभी भी यह आत्मा 'अजहुँ न बूझ अबूझ' ही बनी हुई है । खैर, जो जैसा करेगा, वैसा ही भरेगा । शायद अभी इसके 'भाग जगनेमें' देर है ।

अस्तु ! छोटी-मोटी घटनाएँ तो अनेक हैं, पर दो घटनाओंका उल्लेख करना यहाँ असंगत नहीं होगा; क्योंकि उक्त दोनों संकटोंसे प्रभुकी कृपाके बिना उद्धार असम्भव ही था । इनमेंसे एक घटना तो अभी दो वर्ष पहलेकी ही है । मेरे पिता पं०शिवपूजनप्रसादजी मिश्र अपने गाँव मिश्रजीकी मठिया, बैरिया, बलियासे मेरे पास बम्बई आ गये थे । बातों-बातोंमें मैंने उन्हें द्वारकाकी यात्रा करानेका वचन दे दिया, परंतु पाकिस्तानी आक्रमण शुरू हो जानेके कारण और बम्बईपर भी आक्रमणकी सम्भावनाके कारण उन्हें गाँव वापस भेज दिया । इसके ठीक बाद ही युद्धविराम हो गया । मेरे मनमें पिताजीको द्वारका न करा न सकनेके कारण रह-रहकर खेदके बादल छा जाते थे, अतः मैंने पिताजीको फिरसे बम्बई आकर द्वारका चलनेकी बात लिख दी । पिताजी फिर पंद्रह दिनके अंदर ही बम्बई पहुँच गये और अन्ततः उनको लेकर मैं ३० अक्टूबर १९६५ को द्वारकाके लिये रवाना हो गया । ३१ अक्टूबरकी रातमें हमलोग ओखा पहुँच गये; क्योंकि वहाँकी माधव धर्मशालामें ही ठहरनेका प्रबन्ध किया गया था ।

पर, ३१ अक्टूबरकी रातसे ही पिताजीकी तबीयत खराब होनेके लक्षण दिखायी पड़ने लगे । उन्हें रक्तमिश्रित दस्त होने लगे । फिर भी, उस ओर विशेष ध्यान न देकर १ नवम्बरको प्रातः हमलोग श्रीद्वारकाधीशके दर्शन कर आये । ओखासे द्वारका चार-पाँच स्टेशन पड़ता है । द्वारकासे ओखा धर्मशालामें वापस लौटते-लौटते पिताजीकी बीमारी कुछ ज्यादा बढ़ गयी । अभी भी, यह समझकर कि यह उनकी सदाकी बीमारी है और दूसरे दिनतक ठीक हो जायगी, मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया, पर पिताजी तो वहाँसे लौटकर बिस्तरपर जो पड़े तो पड़ ही गये । रातमें १२–१ बजे तक उनकी हालत अत्यन्त खराब हो गयी । सारे कपड़े, बिस्तर खराब हो गये । मुझे लगा कि यह उनकी आखिरी रात है । मैं बड़ी चिन्तामें पड़ा । उनका अन्त समय निकट जान मैं रोने भी लगा । अपरिचित स्थान । किसीसे कोई खास परिचय नहीं । साथमें मेरे सिवा कोई नहीं । मित्र परिजनोंसे सैकड़ों मील दूर । अक्ल काम नहीं कर रही थी । पर इतनेपर भी इस अभागेको ईश्वरका ध्यान नहीं आया । शायद वहींसे संकटसे मुक्ति मिल जाती । पर भावीको कौन टाले ?

दूसरे दिन अत्यन्त तड़के ही उठकर मैं पिताजीके कपड़े साफ करने लगा । इतनेमें एक परमानन्द भाई भाटिया, जिनसे एक सज्जनने बम्बईमें ही परिचय करा दिया था और ओखा जानेकी बात बता दी थी । शिष्टाचारवश मेरे पास पहुँचे । वहाँका रंग-ढंग देखकर वे भी चिन्तित हुए । पूरे ओखामें केवल एक ही डाक्टर, वह भी रेलवेके डाक्टर । निजी मरीजोंको देखनेके लिये तैयार नहीं । परंतु परमानन्द भाईके अन्य परिचित लोग जो थे, वे भी स्थिति जानकर मदद करने लगे और उन लोगोंसे डाक्टरका जो पुराना सम्बन्ध था, उसके कारण डाक्टरने चिकित्सा करना मंजूर कर लिया । निदानमें डाक्टरने उसे 'बेसीलरी

डिसेन्ट्री' बताया, जो एक भयानक किसकी पेचिश है। ७५ वर्षके बूढ़ेके लिये तो और भी भयानक। फिर एक तो करैला दूसरे नीम चढ़ा। दो-तीन दिनके अंदर ही पिताजीको टायफायड भी हो गया। अब तो मेरे पैरके नीचेसे धरती भी खिसकने लगी। मुझे बार-बार अपनी विवशतापर रोना आता। अक्ल काम नहीं करती। मैं सोचता कि अगर बम्बईमें होता तो सब तरहकी चिकित्सा सुलभ होती, सभी मित्र-परिजन साथमें होते। यहाँ तो एक ही डाक्टर। चाहे जैसी दवा करे और चाहे जितने दिन लगें। दिनभर और रातभर पिताजीकी शुश्रूषामें लगे रहना पड़ता। न दिनको सो पाता और न रातमें। मेरे सामने भयानक संकट था। छुट्टी भी केवल पंद्रह दिनकी ली थी और टायफायडका अर्थ था कि कम-से-कम एक-डेढ़ महीना पिताजी चलने-फिरने लायक भी न हों। उधर डाक्टरके रोज इंजेक्शन देनेके बावजूद एक सप्ताहतक बुखार उतरनेका नाम नहीं ले रहा था।

अब मुझे परमपिताकी याद आयी। 'कल्याण'में ही पढ़ रक्खा था कि 'रामरक्षास्तोत्र'के पाठसे संकटसे अवश्य त्राण मिलता है। रातमें ९-१० बजे जब पिताजी भी सो जायँ, तब मैं बैठकर और धर्मशालाके सामने ही उस पार बेटद्वारकामें स्थित मन्दिरकी ओर मुँह करके स्तोत्रपाठ करने लगा। दो दिनतक मुझे कुछ नहीं मालूम पड़ा, परंतु तीसरे दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि बेटद्वारकाके ठीक ऊपर आसमानमें एक अपूर्व इन्द्रधनुष रंगकी अनुपम ज्योति प्रकट हुई है, जिसके बीचमें एक मूर्ति मेरी ओर आशीर्वादी मुद्रामें हाथ उठा रही है। मैं बड़ी देरतक उस आनन्दमें डूबा रहा। जब मैं अपने आपेमें आया तो मुझे अपने हृदयमें अपूर्व शान्ति प्रतीत हुई। दूसरे दिन जब डाक्टरने थर्मामीटर लगाया तो पिताजीका बुखार एकदम 'नार्मल' आ गया था। तीसरे-चौथे दिन डाक्टरने पिताजीको बम्बई ले जानेकी अनुमति भी दे दी!

अब समस्या खड़ी हुई कि पिताजी इतनी लंबी यात्रा करें कैसे? अन्तमें उन्हीं परमानन्द भाई भाटियाके एक परिचित गार्ड मिल गये, जिन्होंने वीरमगाँवसे बम्बई सेन्ट्रल स्टेशन तकका 'स्लीपर' रिजर्व करा दिया, पर ओखासे वीरमगाँवतक ले जानेकी समस्या अभी रह गयी थी। उसके बाद धर्मशाला-से स्टेशन ले जानेकी भी समस्या थी; क्योंकि रातमें तीन बजे ओखामें गाड़ी पकड़नी थी। पर जिस तरह भगवान्‌ने जेलमें वसुदेवके बन्धन धड़ाधड़ तोड़ दिये थे, उसी तरह ये सारे बन्धन टूटते गये और आज तो उन दिनोंकी याद करके ऐसा लगता है कि मैं कोई सपना देख रहा हूँ। परमानन्द भाई एवं धर्मशालाके मैनेजर श्रीबाबूभाईकी कृपासे रातमें ही आठ-दस आदमी जुट गये, रोगीको उठाने-वाली कुर्सी भी मिल गयी और संयोगकी बात कि भगवत्कृपा-से ओखासे गाड़ीमें चलनेवाले रेलवेगार्ड भी इन लोगोंके परिचयके मिल गये, जिन्होंने अपने डब्बेके पास ही एक डब्बेमें हम दोनोंको बिठाकर ताला बंद कर दिया और वीरमगाँवतक हमलोग 'स्लीपर' का ही आराम करते पहुँच गये। वीरमगाँवमें श्रीबाबूभाईके एक रिश्तेदार थे, जिन्हें हमारी मदद करनेके लिये उन्होंने लिख दिया था। वे बिना परिचयके भी गाड़ीसे उतरनेके पहले ही सीधे सबसे पहले हमारे पास आ पहुँचे। अभी पिताजीको साबूदाना उबालकर उसको छानकर केवल उसका रस दिया जाता था, अतः उनके मिल जानेसे पिताजीको पथ्य देनेकी समस्या भी हल हो गयी। वे सज्जन अपने घरसे पथ्य बनवा लाये। उसके दूसरे दिन प्रातःकाल हमलोग बम्बई पहुँच गये, जहाँ मेरा पत्र पाकर हमारी सहायताके लिये दर्जनों लोग पहुँच गये थे। पिताजीको टैक्सीमें लेकर मैं अपने निवासस्थानपर पहुँच गया। चमत्कारकी बात तो यह है कि मैं ठीक पंद्रहवें दिन बम्बई वापस आ गया और इतनी हिलडुल होनेपर भी पिताजीकी तबीयतमें कोई बिगाड़ नहीं आया। एक माहके अंदर ही पिताजी गाँव पहुँच गये और इस समय तो उनका स्वास्थ्य अत्यन्त उत्तम है। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक समझता हूँ कि गत वर्ष जब मेरे २२ वर्षीय पुत्र चि० शत्रुघ्नप्रसाद उर्फ सुमनजीको बम्बईमें टायफायड हो गया था तो चिकित्सा-व्यवस्थाके बावजूद उसे अच्छा होनेमें एक माहसे अधिक समय लग गया था। क्या बेसीलरी डिसेण्ट्री और टायफायडके दोहरे आक्रमणसे पिताजीका पंद्रह दिनोंमें ही ओखासे बम्बई पहुँच जाने योग्य हो जाना ईश्वरीय कृपाके बिना सम्भव था? दुनिया चाहे जो माने, मैं तो इसे उस परम दयालुकी ही कृपा मानता हूँ, जो हृदयसे पुकार करनेपर दयासिक्त होकर बिना गरुड़के ही पायँ-पियादे दौड़े आता है।

(२)

दूसरी घटना स्वयं मुझसे ही सम्बन्धित है। यह घटना

१९४९ के आश्विन मासकी है। उस समय मैं बलिया जिलान्तर्गत रानीगंजमें एक आटेकी चक्कीकी व्यवस्थापर था। चक्की चालू थी और तभी उसमें कोई त्रुटि आ गयी। उसे चालू हालतमें ही ठीक करनेका प्रयत्न करनेपर रिंच उसमें फँस गया और उसका मेरे घुटनेपर इतने जोरका प्रहार लगा कि घुटनेकी चौड़ी हड्डी खिसक गयी और मैं चलने-फिरनेमें असमर्थ होकर खाटपर पड़ गया। दर्द बेहद था। डाक्टरी दवासे कोई लाभ नहीं हो रहा था और घुटनेकी सूजन इतनी अधिक थी कि घुटना किधर है, यही नहीं मालूम पड़ता था। डाक्टरका कहना था कि घुटनेमें जरा भी डिस्लोकेशन (हड्डी खिसकना) नहीं है। केवल मारसे ही सूजा हुआ है, पर दवासे सूजन कम नहीं हो रही थी। लोगोंने सुझाव दिया कि किसी हड्डी बैठानेवालेको दिखाना चाहिये। पासमें ही एक शिवनन्दन नट रहता था, जो हड्डियाँ बैठाता था। उसे बुलवाया, पर उसने जब घुटना बैठानेका प्रयत्न किया तो मुझे लगा कि मेरे प्राण निकल जायँगे। मैंने उसे मना कर दिया और कह दिया कि इस हड्डी बैठवानेसे तो लँगड़ा रहना ही अच्छा। फिर भी, उसने जिन दवाओंका लेप करनेके लिये कहा था, उनका लेप शुरू कर दिया। उससे दर्दमें राहत मालूम पड़ती थी। पर वह हाड़ बैठानेवाला भी घुटना ठीक नहीं कर सका, इससे मेरा चिन्तित होना और घबराना स्वाभाविक था। यह वह जमाना था, जब मैं ईश्वरमें विश्वास नहीं रखता था। पर 'मरता क्या न करता' ? विपत्तिकालमें हिंदू आस्तिक हो या नास्तिक, उसे ईश्वरकी याद आती ही है। उस दिन हृदयसे बिलखते हुए मैंने उसकी पुकार की और उसीकी याद करते-करते सो गया। रातमें ११ बजे घुटनेमें फिर दर्द होनेसे नींद खुल गयी। माताजीको मैंने आवाज दी और वे तेल गरम करके घुटनेमें मलने लगीं और सेकने लगीं।

मेरी खाट औसारेमें थी, जो सामनेके सहनसे करीब कमर भर ऊँचा है। जब माताजी घुटनेका सेक कर रही थीं, तभी सहनमें बँधी गाय बिल्कुल डरी दिखायी पड़ी। मेरे पास ही टार्च थी, जिसे जलाकर देखनेपर मैं भी सन्न रह गया। गायके पास ही हाथ भरकी दूरीपर एक बड़ा गेहुँवन साँप लेटा हुआ था। गाय उसे देख रही थी और वह गायको। मेरे पासकी ही दो-तीन खाटोंपर अन्य लोग भी सोये हुए थे। पिताजी भी थे। मैंने सबको आवाज दी, पर ईश्वरकी मर्जी कि किसीकी भी नींद नहीं खुली। उधर मेरी आवाज सुनकर साँप एक तरफको सरकने लगा। मुझे उस समय साँप मारनेका बड़ा शौक था। जब मैंने यह देखा कि साँप तो यों ही निकला जा रहा है, तब मानो मेरे शरीरमें एक बिजली-सी दौड़ गयी। मैं भूल गया कि मेरा घुटना जख्मी है और मैं चलनेमें असमर्थ हूँ। पास ही लँगड़ानेके लिये जो डंडा रक्खा हुआ था, उसे लेकर मैं खाटपरसे औसारेमें और औसारेपरसे सहनमें कूद पड़ा। उधर साँप तेजीसे भागने लगा। मैंने दौड़कर साँपपर डंडा चलाया। पर साँप तो सपाटेसे निकल भागा और मैं निराश वापस लौटा। पर यह क्या ? मैं तो बिल्कुल ठीक और स्वस्थ व्यक्तिकी तरह चल रहा था। घुटनेकी सूजन उसी तरह काफूर हो चुकी थी, जिस तरह पंचर हो जानेपर फुटबालका ब्लाडर सिकुड़ जाता है। उस उछल-कूदमें हड्डी अपने आप अपनी जगहपर बैठ गयी थी और दर्द तो जाने कहाँ चला गया था। फिर भी, मैं उस दिन रातभर जगा रहा; क्योंकि मुझे डर लगता था कि सो जानेपर कहीं फिर न घुटना वैसा ही हो जाय। पर घुटना जो ठीक हुआ तो हुआ, वैसे मैं इन घटनाओंको लिखनेमें काफी हिचकिचाहट अनुभव करता रहा हूँ; क्योंकि भय है कि कोई मुझे दम्भी न समझने लगे या कोई ऐसा न कहे कि यह पापी अपना पाप छिपानेके लिये ईशकृपा प्राप्त होनेकी दुहाई दे रहा है, पर, यह सोचकर कि इन घटनाओंको पढ़नेसे शायद कुछ लोगोंको ईशस्मरणकी प्रेरणा मिले, मैंने इन घटनाओंको लिखनेका दुस्साहस किया है और दम्भी कहलानेका भी खतरा मोल लिया है। वैसे दम्भी तो मैं हूँ ही। अन्यथा जो कृपानिधान बार-बार कृपा करता है, उसकी शरण छोड़कर दुनियाके प्रपञ्चोंमें ही क्यों फँसा रहता ? कोई चाहे जो समझे, पर यदि एक प्राणी भी इसे जनहिताय मानकर ईशस्मरणकी महिमा समझ सके तो मैं उतनेको ही अपना परम भाग्य समझूँगा।

—पुरुषोत्तमप्रसाद मिश्र, 'नवभारत टाइम्स' बम्बई १

(२)

नेकीका बदला

कुछ दशाब्दियों पहलेकी बात है। धोराजीमें एक गरीब मेमन रहता था। नामका खानु मुसा। एक बार वह पैदल बगसरा जा रहा था, रास्तेमें वाघणिया ग्रामके समीप उसके पैरसे कोई चीज टकरायी। नीचे झुककर देखा तो

एक वजनदार पैकेट था। पैकेट खोलकर देखा तो उसके अंदर जो गहने थे वे हीरोंसे जड़े सोनेके थे और राज-परिवारोंके पहनने-जैसे थे।

कुछ क्षण तो गरीब मेमनका मन ललचाया। परंतु दूसरे ही क्षण उसने पैकेट बंद कर दिया और खुदा सब देखते हैं—कहकर अपने मनमें आये हुए कुविचारके लिये पश्चात्ताप करने लगा।

सामने ही दीखनेवाले ग्राम बाबणियामें मुखियाके घर वह पहुँचा और उनको पैकेटकी बात बतायी। मुखियाकी नीयत बिगड़ी। 'दोनोंमें आधा-आधा बाँट दिया जाय'—यह प्रस्ताव किया मुखियाने। पर खानु मुसा तो भगवान्‌को याद कर चुका था। पैकेट बंद करके उठा और गाँवके किनारे जा पहुँचा। सोचा यदि राजदरबारका कोई आदमी बगसरा गया होगा और वह वहाँ रुका होगा तो पैकेट खोनेकी बात मालूम हो गयी होगी और तलाशमें आदमी गये होंगे। उसका अनुमान सच होना जान पड़ा। बगसराके बगलसे एक घुड़सवार सरपट दौड़ा चला आ रहा था। खानु मुसाको देखकर सवारने घोड़ा रोका। बातचीतके अन्तमें असली मालिकके पास पहुँचा देनेके लिये खानु मुसाने सवारको पैकेट दे दिया। लेकिन सवार तो चाहता था कि रानीमाता इस नेकनीयत-ईमानदार आदमीको देख लेती। अतः किसी भी प्रकारका इनाम लेनेकी अनिच्छा प्रकट करनेपर भी सवारके आग्रहसे उसके साथ खानु मुसाको जाना पड़ा। रानीजीने उसे कुछ लेनेके लिये बहुत ही आग्रह किया पर मुसाने किसी प्रकार भी उसे स्वीकार नहीं किया।

अपनी नेकनीयतीका भाथा साथ लिये दो पैसे कमानेके लिये खानु मुसा धोराजीसे बम्बई गये। एक सेठके यहाँ नौकरी मिल गयी। दो-तीन दिन बाद फिरते-फिरते खानु मुसा एक पब्लिक नीलामका काम करनेवाले व्यापारीके यहाँ नीलामके समय जा पहुँचा। व्यापारी सोनेकी एक छैलकड़ीका नीलाम कर रहा था। बीस रुपये तोले सोना था, यह उस जमानेकी बात है। खानु मुसाने साढ़े तीन रुपयेकी बोली लगायी। कोई बढ़नेवाला न होनेसे छैलकड़ी उसे मिल गयी और वह उसे लेकर सेठके पास पहुँचा।

ठीक उसी समय सेठके साथ एक जौहरी बात कर रहे थे। खानु मुसाने सेठको सब बात बतायी। उस जौहरीने छैलकड़ीके नीचे लटकते हीरेको देख लिया और वह दूनी-तिगुनी कीमत यहाँतक कि पचीस रुपये देनेको तैयार हो गया। सेठ बड़े चतुर थे। अतः बातको बीचमें ही रोक दिया। जौहरीके चले जानेके बाद सेठने गाड़ी जुड़वायी और खानु मुसाको साथ लेकर अपने एक परिचित जौहरीके पास पहुँचे।

जौहरीने छैलकड़ीका हीरा देखकर दस हजार रुपये कीमत बतायी। जौहरीको कसकर सेठने अन्तमें बीस हजारमें सौदा तै किया। रुपये खानु मुसाको देकर उसे नयी दुकान खुलवा दी। नेकीका बदला भगवान्‌ने दिया। खूब पैसे कमाये। निवृत्तिकालमें खानु मुसा धोराजी आकर रहे और गली-गली दान करते रहे। आज भी धोराजीमें उनका नाम प्रसिद्ध है। 'अखण्ड आनन्द'

—देवेन्द्रकुमार कालिदास पण्डित

(३)

दिव्य आत्मा

बात पुरानी नहीं, अभी गतवर्षकी है। मैं राजस्थान प्रदेशके भरतपुर जिलेके एक गाँवसे बारातके साथ लौट रहा था। धोलपुर स्टेशनपर मैंने जनता ट्रेनकी १५ टिकटें लीं और सभी साथियोंको बाँट दीं। गाड़ी आयी, लेकिन गाड़ीमें बैठे सज्जनोंने डिब्बोंके दरवाजेतक न खोले; बेचारे सामानवाले एक भी गाड़ीमें प्रवेश न पा सके, मैं तो चार साथियोंसहित एक डिब्बेमें चलती गाड़ीमें जैसे-तैसे खिड़कीके द्वारा चढ़ गया। शेष साथियोंको यात्रा सुलभ न हुई।

चार पचपनपर मैं मुरैना स्टेशनपर गाड़ीसे नीचे आया और शेष साथियोंकी प्रतीक्षामें मुसाफिरखानेमें रुक गया। दस बजे साथी आ गये। हम सब धर्मशालामें पहुँचे। पानी पीकर शान्तिसे बैठे ही थे, इतनेमें बाहरसे एकाएक चीत्कारकी आवाज आयी, पीछेसे सँभालना, 'राम, रुको, रुको, ठहरो, ठहरो मैं आया······' यह आवाज मिली।

बाहर निकलकर मैंने देखा तो मैं उस दृश्यको देखकर विस्मित हो गया। एक अस्सी वर्षका वृद्ध बीच रास्तेमें बुरी तरह टूटे वृक्षवत् पड़ा, अचेतन अवस्थामें धीमे-धीमे कुछ अस्पष्ट शब्द बोल रहा था। जिन्हें वहाँ बैठा जन-समुदाय नहीं समझ पा रहा था। उस वृद्धको सँभाले साधुके

वेषमें मानो साक्षात् दया ही बैठी थी, जो उसके सम्पूर्ण वदनको अपनी निर्मल दृष्टिसे निहार रही थी। अचेतन व्यक्तिके आस-पास बीसों आदमी बैठे थे जो इसको कौतूहल समझ कर, आगे क्या होता है, इस प्रतीक्षामें बीड़ी-सिगरेट फूँक रहे थे। उन्हें उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। मैं भी उन्हींमें शामिल हो गया।

बाहरके शोरगुलको सुनकर धर्मशालाके व्यवस्थापक भी आ गये थे; उनको देखकर दो-एक सज्जनोंने निवेदन किया कि 'साहेब, इस वृद्धको धर्मशालामें ठहरनेको स्थान दे दें।' उत्तरमें मैनेजर महोदयने यह कहकर कि 'मैं ऐसे आवारा लोगोंको धर्मशालामें नहीं ठहरने देता'—अस्वीकार कर दिया। महात्माजीने भी कहा कि "दुखी, हताश, अनाथ और निर्बलोंकी सेवा करना ही धर्म है, धर्म ही हमारा प्राण है, धर्मसे ही धरा टिकी है, धर्म नहीं रहेगा तो हम नहीं रहेंगे—इस वेषमें आये 'प्रभु' की सेवा करो, अपना फाटक खोल दो।" पर मैनेजरने असमर्थता प्रकट की। इसपर उनके मना करनेपर भी महात्माजी उस वृद्धको दो व्यक्तियोंकी सहायतासे उठाकर एक चबूतरेपर ले गये और ठंडा पानी लाकर स्वयंके पात्रसे पिलाया। उसे अमृतमय शब्दोंमें धीरे-धीरे पूछने लगे—'राम, तुम कहाँसे आये हो? यहाँ कैसे पहुँचे? आज कुछ खाया है या कि नहीं।' किंतु वृद्ध स्पष्ट कुछ नहीं बोल पाता था। काला शरीर, शरीरपर कपड़ोंके नामपर कमरमें एक चिथड़ा भर चिपका था, धूलसे सने शरीरसे पसीनेकी दुर्गन्ध आ रही थी। इतनेपर भी वह दिव्य आत्मा उसको सीनेसे लगाये उसकी थकान हरनेको धीरे-धीरे उसे दबा रही थी। बीच-बीचमें अमृतमय शब्दोंमें 'राम! तुम भूखे तो नहीं हो, पानी पियोगे?' पूछ रहे थे। काफी राततक मैं वहीं बैठा यह सब देखता रहा।

प्रातः जागकर मैंने देखा तो न वहाँ वह वृद्ध नजर आया और न वह दिव्य आत्मा। पता नहीं; दोनों कहाँ गये? इस नैतिक पतनकी बाढ़ और स्वार्थसने संसारमें यह दिव्य झाँकी कर मैं आनन्दविभोर हो गया।

—नारायणसिंह भदौरिया

(४)

करनीका फल

घटना पूर्णरूपेण सत्य है। केवल व्यक्तिका नाम कल्पित रक्खा गया है ताकि कथाका तारतम्य बना रहे।

श्रीरामलाल गत द्वितीय महायुद्धके समय पोस्टआफिसके कार्यालयमें पत्रोंकी छटनीका कार्य करता था। युद्धका समय था। सैनिकोंके और अन्य कर्मचारियोंके पत्र, जो युद्ध स्थान और कम्पनी हैड-क्वार्टरसे आते थे, उन्हें छाँट-छाँटकर पढ़ा जाता था, कारण कि पत्रमें कोई ऐसी बात न लिख दी गयी हो जिससे जनताका मनोबल दुर्बल हो जाय। अनपढ़ सैनिक और चतुर्थ श्रेणीके कर्मचारी कभी-कभी अपने पत्रोंमें नोट भी भेज देते थे। श्रीरामलालके साथ कार्य करनेवाले लोग नित्यप्रति पाँच, दस रुपयेके नोट, जो पत्रोंमें मिल जाते थे, उन्हें ऊपरी आमदनी मान जेबके हवाले कर पत्रको अग्निमें जला अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान लेते थे। समय व्यतीत होता जा रहा था। श्रीरामलालकी आत्मा ऐसे कार्यको करनेसे बार-बार मना कर देती थी।

कञ्चन, कामिनी और कीर्ति—इन तीन वस्तुओंको अपने सामने आयी देखकर जो ठुकरा दे, वही सच्चा त्यागी माना जा सकता है। एक दिन सौ रुपयेका एक हरा नोट उसके द्वारा पत्र खोले जानेवाले लिफाफेमें मिला। पत्र भेजनेवालेने लिखा था कि 'बड़े भाई साहबकी बीमारीके समाचारको सुनकर उनकी दवादारूके लिये एक सौ रुपयेकी रकम भेजी जा रही है।' आज पूरे सौ रुपये इकट्ठे देखकर रामलालका मन डोल उठा। लोभने ईमानपर विजय प्राप्त की। नोट जेबके हवालेकर पत्रको अग्निमें जला उसने अपने कार्यकी मन-ही-मन प्रशंसा की।

सायंकाल सरकारी सेवाका कार्य समाप्तकर प्रसन्नमुद्रामें वह घर पहुँचा। मकानमें प्रवेश करते ही उसने देखा कि लोगोंकी भीड़ घरमें जमा है। सभीके चेहरेपर उदासीके चिह्न दिखायी दे रहे हैं। वह दौड़ा-दौड़ा ऊपर गया। उसके छोटे भाईने उसे बताया कि अकस्मात् भाभीकी तबीयत दोपहरको अत्यन्त खराब हो गयी थी। इसी हेतु डाक्टर साहबको बुलाना पड़ा है। यह घटना सन् १९३९के आस-पासकी है। उस दिनसे लेकर आजतक उस घरसे डाक्टर साहबका स्थायी सम्बन्ध बना ही हुआ है।

कबिरा तेरे पुन्यका जबतक है भंडार।
तबतक औगुन माफ़ है करो गुनाह हजार॥

—शिवचन्द्र बाहुरा

(५)

ईमान और विश्वास

अबसे लगभग पचास वर्ष पहले मेरे गाँवके एक भाई नौकरीके लिये बम्बई गये। एक लोहेके बोहरे व्यापारीके यहाँ काम मिल गया। ईमानदारीसे सेवा करके वे मालिकके विश्वासपात्र बन गये।

उस समय उस व्यापारीका धंधा कठिनतासे चलता था। इन भाईके नौकर रहनेके लगभग पाँच वर्ष बाद मालिककी मृत्यु हो गयी। उनके एक लड़का था, पर उसकी उम्र बारह वर्षके लगभग ही थी। व्यापार मुश्किलसे चलता था। अतएव दूकान बंद करनेका अवसर आ गया।

किंतु इन भाईने मालिककी पत्नीको आश्वासन देकर काम चालू रखनेके लिये राजी किया। ईमानदारी तथा परिश्रमके द्वारा लगभग दस वर्षमें फर्मको सम्पन्न बना दिया। उसीके साथ-साथ मालिकके लड़केकी शिक्षाकी ओर भी ध्यान रक्खा।

मालिकके लड़केकी बीस-बाईस वर्षकी उम्र हो गयी। तब उन्होंने—'भाई, अब तू योग्य हो गया है अतः अपने पिताका काम सँभाल ले'—यों कहकर फर्मके बहीखाते लड़केको सौंप दिये और स्वयं एक नौकरकी तरह ही अपना काम करने लगे।

इसके बाद कई वर्ष बीत गये। उनकी उम्र लगभग साठ वर्षकी हो गयी। वे स्वयं बाल-बच्चोंवाले थे। एक पाई भी बचा नहीं सके। आँखोंसे दीखना बंद हो गया। अतः उन्होंने कामसे छुट्टी देनेके लिये मालिकसे अनुरोध किया।

परंतु अपनेको पुत्रकी तरह पालन करके योग्य बनानेवाले, फर्मको भलीभाँति चलाकर उसकी उन्नति करके एक-एक पाई सौंप देनेवाले इन उपकारी सेवकको यह छोटा-सा मालिक कैसे भूल जाता! उसने कहा—'चाचाजी! कलसे मेरी गाड़ी आपको घरसे लाने तथा पहुँचानेका काम करेगी। आप यहाँ आकर केवल गद्दीपर बैठ जाया कीजिये। किसी भी कामके करनेकी जरूरत नहीं।'

इसके बाद उम्र और भी अधिक होनेपर वे जब अपने गाँव जाकर रहने लगे थे, तब भी मालिक उन्हें नियमित प्रतिमास तीन सौ रुपये भेजता रहा।

जब वे स्वर्गवासी हो गये तब मालिकने उनकी पत्नी तथा बच्चोंको आश्वासन और सहानुभूतिका पत्र लिखा और लगभग पाँच वर्षतक मासिक दो सौ रुपये भेजता रहा।

एक नौकर और एक मालिक। ईमानदारी तथा विश्वासके सम्बन्धमें कभी कोई भी बात बीचमें बाधक नहीं होती। इसका यह एक उज्ज्वल उदाहरण है। 'अखण्ड आनन्द'

—दीनानाथ व्यास

(६)

मानस-मन्त्रका फल

श्रीतुलसीकृत रामायणजीकी सारी चौपाइयाँ, दोहा, सोरठा, कवित्त महामन्त्र हैं—

अभी दो महीने पहिलेकी बात है, एक भैंस बाजारसे ६१५) में खरीद की गयी। वह घरपर आयी और आठ दिन बाद ही उसने बच्ची (पाडी) को जन्म दिया, परंतु भैंस न तो पाडीको पास आने देती थी, न किसीको भी आँचलके हाथ लगाने देती; और जब मैंने एक दिन अचानक चुपकेसे आँचलसे दूध खैंचा तो उसकी सुरखी लिये हुए रंगत थी, मानो आँचलोंमें खून हो गया तो बड़ी परेशानी हुई। हरि-इच्छासे मेरे मनमें प्रेरणा हुई कि रामायणमें जो मन्त्र लिखे हैं, उनकी आजमाइश की जाय, एक सफेद कागजपर नीचे लिखे हुए दोहेको लिखा—

बंदौं पवन कुमार खल बन पावक ग्यानघन॥
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

दोहा कागजपर लिखकर अग्निमें घी, गुड़, चन्दनका चूरा डालकर ७ बार धूनी देकर, लाल कपड़ेमें बाँधकर, भैंसके बायें सींगपर बाँध दिया। फिर क्या था, भैंस दो दिनमें पाडीको चुखाने और दूध देने लगी। उसके बाद उस मन्त्रको वापस निकालकर नदीमें बहा दिया। फिर हनुमान्‌जीका पूजन मंगलवारके दिन किया गया। अब किसी भी तरहकी कोई भी भैंसको शिकायत नहीं है। कोई सज्जन इस मन्त्रपर विश्वास रखकर काममें लेना चाहें तो ले सकते

हैं। परंतु काम होनेपर श्रीपवनपुत्र (हनुमान्‌जी) का पूजन अवश्य होना चाहिये—इसमें भूल न हो।

—हीरालाल परता

(७)

अर्धाङ्गवायु या लकवेका काढ़ा

'कल्याण'के गतवर्षके १२वें अङ्कमें पृष्ठ १३९९ पर श्री म० ना० धारकर महोदय, नायब दीवानका बाड़ा, लक्ष्मीगंज, पो० लश्कर (ग्वालियर-मध्यप्रदेश) का भेजा हुआ अर्धाङ्गवायु या लकवेके रोगमें प्रयोग करनेके लिये एक काढ़ा छपा था। उसके सम्बन्धमें हमारे पास बहुत-से पत्र आये हैं तथा लेखक महोदयके पास भी पत्र गये हैं। लेखक महोदयने सबकी जानकारीके लिये एक पत्र लिखा है, उसका सारांश यहाँ दिया जाता है—

लकवेके काढ़ेके सम्बन्धमें पत्र प्राप्त हुए। इन पत्रोंमें पूछे गये प्रश्नोंका स्पष्टीकरण प्रस्तुत है।

१. **बायसुरई**—यह औषध मध्यप्रदेशके दतिया जिलेमें मौजा सेवड़ाके जंगलोंसे सेहरियोंकी सहायता-से प्राप्त हो सकती है। यह काले रंगकी अंगुलीके पोरवेके समान, बारीक जड़ोंके रूपमें होती है। हमारे यहाँ जड़ी-बूटी बेचनेवालोंके पास यह नहीं मिलती। ऐसा कहा जाता है कि आजकल बायसुरईके नामसे बड़की जड़ें बेची जाती हैं। अतः असली बायसुरई प्रयत्नसे प्राप्त करनी चाहिये। (इसका संस्कृत या अन्य भाषाओंमें क्या नाम है—इसका मुझे पता नहीं है)

२. विसखपड़ा, पुनर्नवा या साँठेको कहते हैं। यह पुनर्नवा और देवदारकी लकड़ी प्रसिद्ध ओषधियाँ हैं। जड़ी-बूटी बेचनेवालोंके यहाँ मिल सकती है।

३. एरंड-मूल रेंडीकी जड़ (castor oil plant) को कहते हैं। यह प्रसिद्ध है।

४. मिट्टीका पात्र प्रतिदिन बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। नौ (९) दिन बाद पात्र बदल देना ठीक रहेगा।

(५) एक सज्जन लिखते हैं कि 'पहले उनका पैर पतला पड़ गया और अब बिना किसीकी सहायतासे वे उठ-बैठ नहीं सकते इत्यादि' और पूछा है कि 'इस काढ़ेका सेवन वे कर सकते हैं या नहीं।' इस सम्बन्धमें नम्र सुझाव है कि इस काढ़ेका सेवन करनेसे उन्हें कोई हानि तो हो ही नहीं सकती, होगा तो लाभ ही होगा। (कितना होगा यह कहा नहीं जा सकता।)

निवेदन है कि इस काढ़ेके पूज्य प्रवर्तक विद्यमान नहीं हैं। अतः 'कल्याण'में जितनी जानकारी छप चुकी है, उससे अधिक जानकारी देनेमें मेरी असमर्थता है। इसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। मुझे वैद्यकका ज्ञान नहीं है। इतना अवश्य ज्ञात था कि यह काढ़ा लकवेपर रामबाण दवाकी भाँति काम करता है, मैंने सेवामें प्रस्तुत कर दिया था। ऐसी स्थितिमें 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहक इस सम्बन्धमें मुझसे कृपया पत्र-व्यवहार करनेका कष्ट न करें। भवदीय नम्र—

(ह०) म० ना० धारकर, लश्कर

अभी नित्य निर्भय हो जाओ

सहज सुहृद, अतिशय हितकारी ईश्वर रहते हैं नित साथ।
दिव्य सुखद आश्रय देनेको सदा बढ़ाये रखते हाथ॥
बरसाते रहते नित वे प्रभु शान्ति-सुधा-रसका शुचि मेह।
नित्य दान करते रहते वे अति उदार निज शुचितम स्नेह॥
देखो उनकी ओर, हटा लो उनसे विमुख जगत्‌से दृष्टि।
उनके बिना यहाँ है केवल दुःख, ताप, तम, भयकी सृष्टि॥
सम्मुख हो जाओ तुरंत लो चरणोंका अनन्य आश्रय।
कर लो सफल जन्म-जीवन, हो जाओ अभी नित्य निर्भय॥

सात नयी पुस्तकें !   प्रकाशित हो गयीं !!

महकते जीवन-फूल

(सुखी जीवन-यापनकी विद्या)

ले०—डा० रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य दो रुपये, डाकखर्च अलग।

हमारा जीवन सुगन्धित फूलोंकी तरह महकता रहे, अपनी सुवाससे दूसरोंके जीवनको निरन्तर महकाता रहे, उन्हें प्रेमकी पुचकार और साहसका प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाता रहे।

एक जिंदगी, एक उत्साहवर्द्धक आशापूर्ण जीवन, एक प्राणपूर्ण जीवन। वह जिंदगी जियें जो न केवल अपने लिये ही प्यारी हो, बल्कि और सबके लिये भी दुलारी हो, बेशकीमती हो और हर प्रकार आदर्श और प्रेरक हो। सफल जीवनका मतलब है किसी निश्चित कायदेके साथ जीना। और इस पुस्तकमें ५७ अध्यायोंमें इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

श्री'चक्र'की पवित्र प्रेरणा देनेवाली कहानियोंके तीन संग्रह

दस-महाव्रत

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ७२, मूल्य तीस पैसे, डाकखर्च अलग।

'कल्याण'के पाठक श्री'चक्र'जीकी कहानियोंको अलग पुस्तकाकार प्रकाशित करनेके लिये वर्षोंसे अनुरोध कर रहे थे। उसका पहला फल है—दस महाव्रत। लेखकने इसमें एक-एक महाव्रतका सजीव चित्र खींचा है। वह मनोहारी और आकर्षक तो है ही—जीवनको बहुत उच्च स्तरपर पहुँचा देनेवाला भी है।

सदाचार-प्रेमी सहृदय पाठकोंसे निवेदन है कि वे इन कहानियोंका प्रचार-प्रसार करके लोक-सेवाके पवित्र कार्यमें हाथ बँटावें।

चमत्कारी आठ 'अ'कार

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०, मूल्य पचीस पैसे, डाकखर्च अलग।

इसमें आठ कहानियाँ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, हिंसा, चोरी और भय—ये आठ दोष हैं जो मानव-जीवनके पतनमें प्रबल हेतु हैं। इनका अभाव हो जानेपर जीवनका क्या स्वरूप होता है, लेखकने उसका सजीव चित्र प्रदर्शित किया है।

त्रिविध श्रद्धा और त्रिविध त्याग

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ५०, मूल्य बीस पैसे, डाकखर्च अलग।

इसमें तामसी, राजसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी श्रद्धा एवं तामस, राजस और सात्त्विक—तीन प्रकारके त्यागका स्वरूप बतलानेवाली छः कहानियाँ दी गयी हैं। प्रत्येक कहानीमें अपने विषयका रोचक एवं हृदयग्राही वर्णन है। इसके पढ़नेसे पाठकोंको सहज ही तामस-राजसका त्याग करके सात्त्विकी श्रद्धा और सात्त्विक त्याग ग्रहण करनेकी प्रेरणा मिलती है।

'शिव' द्वारा लिखित कल्याण-कुञ्जके भाग ४, ५ और ६ का प्रकाशन

मानव-कल्याणके साधन

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २७६, तिरंगा चित्र, मूल्य १.००, सजिल्द १.३०, डाकखर्च अलग।

'शिव' के मनमें उठनेवाली विचार-तरङ्गोंमेंसे जो लिपिबद्ध हो जाती हैं, वे 'कल्याण' शीर्षकसे 'कल्याण' में प्रायः प्रतिमास प्रकाशित होती रहती हैं। उन्हीं तरङ्गोंके संग्रहका यह चतुर्थ भाग प्रकाशित किया जा रहा है।

दिव्य सुखकी सरिता

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १२०, 'शिव'का सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य पचास पैसे, डाकखर्च अलग।

यह शिव-विचार-तरङ्गोंका पाँचवाँ भाग है। इसमें ऐसे विचार हैं, जिनमें दुःखरहित अनन्त अखण्ड दिव्य सुखकी सरिताका कल्याण-सुधामय प्रवाह है। पाठक इस सरितामें अवगाहन करेंगे और इसके सुधा-रसका पान करेंगे, ऐसी आशा है।

सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १४४, 'शिव'का सुन्दर तिरंगा चित्र, मूल्य बारह पैसे, डाकखर्च अलग।

इसमें 'शिव'के विचार उच्च जीवनकी सफलताके शिखरपर पहुँचानेवाली सुखमयी सीढ़ियोंके रूपमें उपस्थित किये गये हैं। उच्च जीवनके शिखरपर पहुँचनेकी सीढ़ियोंमें कष्ट न होकर आराम ही मिलेगा और शिखरपर पहुँच जानेपर तो परमानन्द-स्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

भूल-सुधार

(१) 'उपासना-अङ्क' पृष्ठ १५९ 'गायत्री-उपासना और उसकी महिमा' शीर्षक लेखके पहले कालमकी टिप्पणीमें एक श्लोक छपा है, उसमें पहली पंक्ति है—'गायत्री ब्रह्मरूपा स्यात् सावित्री विष्णुरूपिणी।' इसको यों सुधारकर पढ़ना चाहिये—'गायत्री ब्रह्मरूपा स्यात् सावित्री रुद्ररूपिणी।' अर्थात् 'विष्णुरूपिणी'की जगह 'रुद्ररूपिणी' पढ़ना चाहिये। विष्णुरूपिणी भूलसे छप गया है।

(२) 'उपासना-अङ्क' पृष्ठ ५६० 'वैष्णव-सम्प्रदायमें वैखानस-सम्प्रदायका वैशिष्ट्य' शीर्षक लेखके पहले कालमकी चालीसवीं पंक्तिमें भूलसे 'नव ब्राह्मणा' छपा है, उसे 'नव ब्रह्माण' तथा इसकी पंक्तिमें 'नव शिष्य ब्राह्मण थे' भूलसे छपा है, उसे 'नव शिष्य ब्रह्मा थे'—ऐसा पढ़ना चाहिये।

(३) फरवरीके अङ्क पृष्ठ ७५७ में 'आद्याशक्ति' शीर्षक लेखमें लेखकका नाम पं० श्रीबुद्धिनाथजी मिश्र, एम्० ए०, शास्त्री भूलसे छपा है। वस्तुतः श्रीमिश्रजी एम्० ए० के विद्यार्थी हैं और वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालयमें 'शास्त्री' की परीक्षा दे रहे हैं। मिश्रजीने स्वयं 'भूल-सुधार' के लिये लिखा है।

सूचना

(१) बिना चर्बीकी साबुन कहाँ-कहाँ बनती है, इस सम्बन्धमें कई पत्र आये हैं। श्रीगोविन्द-भवन कार्यालय, कलकत्तामें भी साबुन बनने लगी है। ऐसे बहुत-से 'नाम-पते' कल्याणके आगामी मईके अङ्कमें प्रकाशित किये जायँगे।

चित्रकारकी आवश्यकता

गीताप्रेसके कुशल चित्रकार श्रीविनयकुमार मित्रकी आँखें खराब हो गयीं, इसलिये वे चित्र नहीं बना सकते। दूसरे चित्रकार श्रीजगन्नाथका असमय देहावसान हो गया। तीसरे श्रीभगवानदास हैं, वे अच्छे चित्र अङ्कित करते हैं, परंतु स्वास्थ्य खराब रहनेके कारण समयपर पूरा काम कर नहीं पा रहे हैं। इसलिये एक ऐसे चित्रकारकी आवश्यकता है, जो श्रीविनयकुमार मित्र महोदयकी कलमके हमारे बताये अनुसार ठीक समयपर शास्त्रीय चित्र बनाकर दे सकें। उनकी नियुक्ति उचित मासिक वेतनपर की जा सकती है अथवा वे प्रति चित्रका उचित मूल्य ले सकते हैं या चित्र केवल ब्लाक बनानेके लिये उचित न्योछावरपर देकर ब्लाक बन जानेपर वापस ले सकते हैं। जो चित्रकार काम करना चाहें, सम्पादक 'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उत्तरप्रदेशके पतेपर पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)